माँ की महिमा

1. **आद्य शक्तियाँ:** यह सृष्टि भगवान् की शक्ति की जीवन्त अभिव्यक्ति हैं। भगवान् जब निर्दोष, निर्विकार, सुखमय, शान्तिमय, ऐश्वर्यमय एवं आनन्दमय पूर्ण हैं, तो भगवान् की सृष्टि भी निर्दोष एवं सब प्रकार से पूर्ण हैं। इस जीव-जगत् सृष्टि में मनुष्य भगवान् की सर्वश्रेष्ठ रचना है और मनुष्यों में भी 'माँ' में भगवान् के स्वरूप की समग्र अभिव्यक्ति है, माँ भगवान् की जीवन्त, दृश्य, मूर्त्त, सगुण साकार एक दिव्य अभिव्यक्ति या अवतरण है। वैज्ञानिक एवं व्यवहारिक रूप से भी देखें तो यद्यपि स्त्री या पुरुष दोनों के ही सेल्स से क्लोनिंग के माध्यम से मनुष्य की उत्पत्ति संभव है। मनुष्य के शुक्राणु के माध्यम से पुरुष या स्त्री की उत्पत्ति माँ के माध्यम से ही धरती पर होती है। परन्तु यदि पुरुष का सहयोग न भी लिया जाए तो क्लोनिंग साइंस से स्त्री तो अपने ही क्लोन सेल से अपनी कोख से बिना मनुष्य की मदद के भी सन्तान को जन्म दे सकती है परन्तु मनुष्य बिना स्त्री की मदद के सन्तान की उत्पत्ति नहीं कर सकता। अत: सृष्टि के आदिकाल में तथा आज भी माँ ही जननी, आद्या शक्ति या मानवी सृष्टि की प्रवर्तक है।
2. **दिव्यता की देवी माँ:** ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण दिव्यताएं घनीभूत मातृशक्ति में अवतरित होती हैं। सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, वात्सल्य, सेवा, सहानुभूति, सहजता, सहिष्णुता, संतोष, समर्पण, धैर्य, उत्साह, पराक्रम, त्याग, ज्ञान, भक्ति एवं पुरुषार्थ की पराकाष्ठा होती है। मातृशक्ति में सृष्टि का इतिहास व वर्तमान इसका साक्षी है।
3. **देवालाय है देवी:** सारे तीर्थ, धाम, धर्म, पुण्य, संस्कार एवं समस्त शुभ का आधार है माँ। माँ के आशीर्वाद से ही मनुष्य सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान, सफलता, सुख एवं जगत् के सम्पूर्ण सम्बन्धों को प्राप्त करता है। माँ की शरणागति से ही साधक भगवान् की शरणागति को अनुभव कर सकता है अर्थात् जो माँ की शरणागति को अनुभव नहीं कर पाता वह भगवान् की शरणागति से भी वंचित रह जाता है। अत: साधक की साधना की भी पहली सीढ़ी माँ ही है। जिसने माँ को समग्रता, दिव्यता, गंभीरता, प्रामाणिकता व आध्यात्मिकता के साथ समझ लिया उसके लिए जीवन व जगत् के सारे रहस्य खुल जाते हैं।

ISBN : 978-93-92323-07-2

मूल्य : ₹110/-

भारत की महान् नारियाँ

॥ ओ३म् ॥

भारत की महान् नारियाँ

संकलन कर्त्री

डॉ० साध्वी देवप्रिया

मूल्य : ₹ 42/-

ISBN : 978-81-954281-4-4

पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार

Facebook :-
www.facebook.com/swami.ramdev
www.facebook.com/AcharyaBalkrishanJi
www.facebook.com/bharatswabhimantrust

Twitter :-
www.twitter.com/yogrishiramdev
www.twitter.com/bst_official

Websites:-
www.bharatswabhimantrust.org/bharatswa/
www.swadeshswabhiman.com/

Youtube:-
www.youtube.com/user/TheBHARATSWABHIMAN

ओ३म्

ब्रह्मसूत्रम्

संकलन कर्त्री
डॉ० साध्वी देवप्रिया

मूल्य : ₹45/-
ISBN : 978-81-954281-2-0

पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार

www.twitter.com/bst_official www.facebook.com/swami.ramdev
E-mail : bharatswabhimanheadoffice@gmail.com, **Web :** www.bharatswabhimantrust.org
Phone : 01334-240008, 248888, 244107, 246737 Fax : 01334-240664

ओ३म्

न्यायदर्शनम्

संकलन कर्त्री
डॉ० साध्वी देवप्रिया

मूल्य : ₹35/-
ISBN : 978-81-954281-3-7

पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार

www.twitter.com/bst_official www.facebook.com/swami.ramdev
E-mail : bharatswabhimanheadoffice@gmail.com, **Web :** www.bharatswabhimantrust.org
Phone : 01334-240008, 248888, 244107, 246737 Fax : 01334-240664

ओ३म्

सांख्यदर्शनम्

संकलन कर्त्री

डॉ० साध्वी देवप्रिया

ISBN : 978-81-954281-9-9

पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार

Facebook :-
www.facebook.com/swami.ramdev
www.facebook.com/AcharyaBalkrishanJi
www.facebook.com/bharatswabhimantrust

Twitter :-
www.twitter.com/yogrishiramdev
www.twitter.com/bst_official

Websites:-
www.bharatswabhimantrust.org/bharatswa/ www.swadeshswabhiman.com/

Youtube:-
www.youtube.com/user/TheBHARATSWABHIMAN

ओ३म्

वैशेषिकदर्शनम्

संकलन कर्त्री
डॉ० साध्वी देवप्रिया

मूल्य : ₹75/-
ISBN: 978-81-954281-1-3

दिव्य प्रकाशन
पतंजलि योगपीठ
महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली–हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग,
निकट बहादराबाद, हरिद्वार–249405 (उत्तराखण्ड)

ओ३म्

दर्शन प्रवेश

- योग दर्शन
- सांख्य दर्शन
- न्याय दर्शन
- वैशेषिक दर्शन
- वेदान्त दर्शन
- मीमांसा दर्शन

लेखिका
डॉ० साध्वी देवप्रिया

शिक्षा विशेषांक
भारतीय शिक्षा बोर्ड- आवश्यकता और उसका ध्येय

डॉ. साध्वी देवप्रिया
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा- दर्शन विभाग, पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन भारत में ज्ञान परंपरा व शिक्षा का महत्व

वैदिक काल के प्रारम्भ से लेकर भारत में ज्ञान व विद्या प्राप्ति को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। ईसा पूर्व 4वीं शताब्दी में आये यूनानी राजदूत मैगस्थनीज से लेकर 7-8वीं शताब्दी के ह्वेन-सांग व इत्सिंग जैसे चीनी यात्रियों व दसवीं सदी में आये विद्वान् अलबरुनी तक सभी विदेशी यात्रियों ने स्वीकार किया है कि सभी हिन्दू अर्थात् भारतीय स्वभावतः विद्या प्रेमी होते हैं। बाद में आने वाले यूरोपीय यात्रियों व खुद अंग्रेजों के विभिन्न विद्वानों व सर्वेक्षण रिपोर्ट्स के आधार पर यह तथ्य सिद्ध हो चुका है। आस्ट्रिया में जन्मे इरापावबिनो-दो बारथोलाम्यू ने सन् 1789 में अपने 14 वर्षों में भारत के रहने के अनुभव के आधार पर लिखा है कि 'भारतीय शिक्षा तथा लेखन प्रणाली का विकास ईसा पूर्व हो चुका था और वह अब तक भी प्रचलित है। शायद इस पृथ्वी पर ऐसा और कोई देश नहीं है जहाँ भारतीयों के समान प्राचीन पद्धति और व्यवस्था का अनुसरण इतनी लंबी कालावधि तक हों।' एक और इतिहासकार ब्रिगेडियर जनरल अलेक्जेंडर वाकर ने भारत में 1780 से 1810 तक ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी की। उन्होंने कहा है कि 'किसी भी समाज में शिक्षा का शायद इतना महत्व नहीं है जितना हिंदुओं में है।' उनके अनुसार, 'वे (हिंदू) अपने बच्चों को उत्तम विद्यार्जन कराने के लिए धन, कुल-गौरव और जाति-अभिमान सब कुछ न्यौछावर कर सकते हैं।'

मद्रास के कलक्टर एल.जी.के. मरे ने रिपोर्ट दी है कि 'प्रत्येक बच्चे को 5 वर्ष की आयु में पाठशाला में भेजने की प्रथा है। उसके आगे उच्च शिक्षा प्राप्त करते जाना अधिकांशतः स्वयं उनकी मानसिक वृत्ति पर अवलंबित है। परंतु प्रायः यह स्वीकार करना होगा कि 13 वर्ष की आयु प्राप्त करने से पहले-पहले विद्या के विविध क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियाँ पर्याप्त प्रशंसनीय होती हैं। यह स्थिति हिंदू वर्णों की विशेषता है।' लुडलो अपने 'ब्रिटिश इंडिया' में कहते हैं कि 'प्रत्येक हिंदू ग्राम में, जिसने अपने स्वत्व को थोड़ा भी कायम रखा है, शिक्षा की प्रारंभिक व्यवस्था अवश्य रहती थी। एक भी बच्चा ऐसा नहीं होता, जो लिखना, पढ़ना और हिसाब लगाना नहीं जानता हो, विशेषतः गणित में तो वे बहुत ही प्रवीण होते हैं।'

विश्व का पहला विश्वविद्यालय तक्षशिला आज से लगभग 2800 वर्ष पूर्व स्थापित हुआ। चौथी शताब्दी ई. पूर्व नालंदा विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। इसके साथ ही प्राचीन भारत में विक्रमशिला विश्वविद्यालय, वल्लभी विश्वविद्यालय, उदांतपुरी विश्वविद्यालय, सोमपुरा विश्वविद्यालय, पुष्पगिरी विश्वविद्यालय आदि शिक्षा के विश्वस्तरीय केन्द्रों के खण्डहर भारत में विश्व में सर्वाधिक उन्नत शिक्षा के प्रमाण हैं।

एक विद्वान् की शिक्षा की परिभाषा

शिक्षा के व्यापक भाव को स्पष्ट करते हुए भारत के प्रसिद्ध चिंतक काका साहेब कालेकर ने वर्तमान संदर्भ में इसे स्पष्ट करते हुए व उसका मानवीकरण करते हुए उसके मुख से कहा, 'मैं सत्ता की दासी नहीं हूँ, कानून की किंकरी नहीं हूँ, विज्ञान की सखी नहीं हूँ, कला की प्रतिहारी नहीं हूँ, अर्थशास्त्र की बाँदी नहीं हूँ। मैं तो धर्म का पुनरागमन हूँ, मनुष्य की बुद्धि, रहस्य तथा इन्द्रियों की स्वामिनी हूँ। मानस शास्त्र एवं समाजशास्त्र मेरे दो चरण हैं, कला और कारीगरी मेरे दो हाथ हैं, विज्ञान मेरा मस्तिष्क है, धर्म मेरा हृदय, निरीक्षण और तर्क मेरी आँखे हैं, इतिहास मेरे कान हैं, स्वतंत्रता मेरी श्वास है, उत्साह और उद्योग मेरे फेफड़े हैं, धैर्य मेरा व्रत है तथा श्रद्धा मेरा चैतन्य है।

परम पावनी

16 संस्कारों की वैदिक ऋषि परंपरा

डॉ. साध्वी देवप्रिया
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा- दर्शन विभाग
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सृष्टि का सृजन करके उसे पालना, उत्कर्ष की ओर ले जाना व कृतार्थ जीव के लिए उसका (सृष्टि का) नष्ट हो जाना, यह कार्य ईश्वर स्वयं करता है और इस विराट् कार्य में उसने अपना निमित्त बनाया है- माता, पिता व गुरु को। इन तीनों में भी सबसे बड़ा योगदान है- माँ का। सृष्टि की शुरुआत के साथ-साथ भारतीय सभ्यता की शुरुआत में भी नारीजाति के ही गुण हैं, जैसे- दया, प्रेम, करुणा, क्षमाशीलता, पराक्रमशीलता, सहनशीलता, सत्यवादिता, परदुःखकातरता आदि-आदि। परमात्मा ने सभी चेतन जीवों में दो ही जातियाँ बनायी हैं- एक पुरुष और दूसरी स्त्री। सृष्टि को आगे चलाने के लिए परमात्मा को भी माँ की परम आवश्यकता है, इसलिए उसने माँ को सब प्रकार से सक्षम बनाया है। सन्तानों को जन्म देकर, उनका श्रेष्ठ निर्माण करके सृष्टि को उत्कर्ष की तरफ ले जाना संसार में सबसे श्रेष्ठतम कार्य है और महाकठिन भी। यद्यपि आत्मा अपने पिछले जन्मों के संस्कार साथ लेकर ही गर्भ में आता है मगर अभी उसके सभी संस्कार सुषुप्तावस्था में हैं, इसलिए माता-पिता और गुरुजन जो वाणी, व्यवहार आदि के संस्कार बालक के चित्त में डाल देते हैं, बालक उन पर परम विश्वास करता है और जीवन भर भूलता नहीं है। इसलिए प्रत्येक युग के, प्रत्येक क्षेत्र का इतिहास चक्र उन महान् नारियों के इर्द-गिर्द ही घूमता है जिन्होंने किसी न किसी रूप में महापुरुषों का निर्माण किया।

उत्कृष्ट व्यक्तित्व निर्माण की इस पावनी परम्परा में 16 संस्कार, नवनीत के लिए दूध के समान काम करते हैं। संस्कार शब्द का अर्थ है किसी वस्तु या व्यक्ति के रूप को बदल देना, उसे नया रूप दे देना। चरक ऋषि ने कहा है-**'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'** अर्थात् पहले से विद्यमान दोषों को हटाकर, उनकी जगह सद्गुणों का आधान कर देना संस्कार है। प्रश्न यह है कि जिस प्रकार से स्थूल, जड़ वस्तुओं का मनचाहा नवनिर्माण किया जा सकता है, क्या उसी प्रकार से मानव का भी दोषरहित मनचाहा नवनिर्माण किया जा सकता है? ऋषियों का उत्तर है- हाँ, अवश्य। इसी विचार को सम्मुख रखकर 16 संस्कारों का विधान अर्थात् जीवन में 16 बार स्थूल व सूक्ष्म स्वरूप को बदलने का विशेष प्रयत्न केवल वैदिक-संस्कृति में ही पाया जा सकता है, अन्यत्र नहीं और अन्यत्र यदि कुछ अंशों में कहीं पाया भी जाता है तो वह वैदिक संस्कृति से ही गया है।

चार आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सबसे ज्येष्ठ व श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि वह शेष तीन आश्रमों का आधार है, इसलिए गृहस्थाश्रम वही सफल माना जाता है जो श्रेष्ठ सन्तान का निर्माण कर सके। इतिहास साक्षी है कि गान्धारी जैसी विदुषी, धर्मपरायणा व तपस्विनी नारी भी अच्छी सन्तान का निर्माण न कर पाने के कारण उस गौरव, सम्मान व सुयश को प्राप्त नहीं कर पायी, जबकि दूसरी ओर कौशल्या, सुमित्रा, अञ्जना, सीता, कयादु, कुन्ती, मदालसा, शकुन्तला, सुभद्रा, देवकी व यशोदा जैसी महान् नारियाँ इसीलिए ऐतिहासिक महिलाएँ बन गई, क्योंकि उन्होंने श्रेष्ठ सन्तानों का निर्माण किया। किसी भी इकाई की पूर्णता के मुख्यतया चार अंश होते हैं- चार युगों को मिलाकर सृष्टि पूर्ण होती है, चार पाद या चार स्तम्भ मिलकर किसी अध्याय, छन्द या किसी भवन को पूर्ण करने में आधार बनते हैं। जीवन भी बचपन, युवा, प्रौढ़ व वृद्धावस्था इन चार अवस्थाओं से गुजरकर पूर्ण होता है-मुख्य चार ऋतुओं से वर्ष पूर्ण होता है, इसी प्रकार माता-पिता-गुरुजन व समाज इन चार के माध्यम से चार चरणों में मानव जीवन का निर्माण भी पूर्ण होता है। प्रथम चरण है- बच्चे के जन्म से पूर्व की तैयारी, जिसमें माता-पिता दोनों का बराबर महत्त्व है। दूसरा चरण है- गर्भावस्था से लेकर अर्थात् गर्भाधान संस्कार से लेकर दसवाँ संस्कार उपनयन पर्यन्त, जिसमें माँ का सर्वाधिक महत्त्व है। तीसरा चरण है- वेदारम्भ से समावर्तन संस्कार पर्यन्त जिसमें गुरु की अद्भुत

जीवन के इस निरन्तर प्रवाह में इन 16 संस्कारों के माध्यम से उत्कृष्ट-उत्कृष्टतर व उत्कृष्टतम अवस्था को प्राप्त करना मानव जीवन की पूर्णता को प्राप्त करना है यही हमारी परम पावनी वैदिक ऋषि परम्परा है।

महिमा है और चौथा चरण है- विवाह संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कार, जिसमें व्यक्ति का, स्वयं का व समाज का बड़ा योगदान है। यद्यपि समाज या वातावरण का अप्रत्यक्ष प्रभाव तो जन्म से ही रहता है लेकिन माता-पिता-गुरु व व्यक्ति स्वयं यदि प्रबुद्ध व जागरूक हों, तो समाज के प्रभाव को कम किया जा सकता है। इसीलिए शास्त्र कहता है- **मातृमान्-पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।** अर्थात् इन तीन के अभाव में पौरुष से युक्त नहीं हो सकता है। उपरोक्त 16 संस्कारों में विशेष बात देखने की यह है कि 10 संस्कार अर्थात् निर्माण कार्य की लगभग तीन गुणा जिम्मेदारी माता-पिता पर है। उन 10 संस्कारों को भी दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है- प्रथम जन्म से पूर्व गर्भावस्था वाले संस्कार जो सर्वाधिक प्रभावशाली होते हैं जो सौ प्रतिशत परिणाम लाने वाले तथा पूर्णरूपेण माँ के हाथ में होते हैं और दूसरे जन्मोपरान्त वाले संस्कार/आयुर्वेद के अनुसार प्रथम चार माह में स्थूल शरीर का उपादान सामग्री (Raw material) तैयार हो जाता है तत्पश्चात् चौथे माह में मस्तिष्क व तंत्रिका तंत्र (Nervous System) का निर्माण, पाँचवें में मन, छठे माह में बुद्धि, सातवें में बुद्धि का विकास, आठवें में हृदय और नवे माह सर्वांगों का पूर्ण विकास होकर तैयार हो जाता है, यह ऐसा ही है कि जैसे कोई स्थूल भवन बनाने के लिए पहले जो मानचित्र बनाया गया था वह अब स्थूल रूपेण बनकर तैयार है। सीधा-टेढ़ा-अच्छा-बुरा जैसा भी है लेकिन अभी साज-सज्जा (Furnishing) बाकि है, इसे सुसज्जित करना बाकि है। ये द्वितीय चरण के अर्थात् जातकर्म से लेकर उपनयन पर्यन्त संस्कार हैं जो इसे सुसज्जित बनाते हैं। अनेक साक्षात् उदाहरण इतिहास में देखे जा सकते हैं उनमें से माता मदालसा का वर्णन है कि किस प्रकार इन्हीं 10 संस्कारों के बल पर उन्होंने अपने आठ पुत्रों को ब्रह्मर्षि तथा नौवें को राजर्षि बना दिया था। स्थूलरूप में देखें तो सभी मकानों में ईंट-सीमेन्ट-बजरी-लोहा आदि ही लगे हैं मगर उन्हीं मकानों में कोई मन्दिर-मस्जिद-गुरुद्वारा बन गया तो कोई कत्लखाना-शराबखाना बन गया कोई सामान्य घर तो कोई स्वर्ग समान विशेष घर तो कोई शिक्षण संस्थान या आश्रम बन गया, उसी प्रकार यह मनुष्य भी संस्कारों से पूजनीय तथा संस्कारों के अभाव में अपूजनीय बन जाता है। माता-पिता के पश्चात् तृतीय चरण में गुरु या आचार्य की जिम्मेदारी आती है जो कि माता-पिता से भी सैकड़ों गुणा बड़ी होती है क्योंकि इसे सूक्ष्म अस्तित्व का निर्माण करना है, यह सूक्ष्म का शिल्पी है। इस निर्माण के लिए पूर्ण ज्ञान, वैराग्य, पवित्रता अनन्त धैर्य, सहनशीलता व क्षमाशीलता गुरु में होना परम आवश्यक है। एक पूर्ण समर्थन प्रज्ञावान्, सामर्थवान् आचार्य ही, एक श्रेष्ठ शिष्य का निर्माण कर सकता है और महान् वही बन सकता है, जिसने जीवन का कोई विराट् लक्ष्य चुना है यदि लक्ष्य बड़ा नहीं है तो पूर्ण ब्रह्मचर्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। कितना भी भव्य मकान क्यों न हो जब तक उसमें प्रकाश न हो तब तक सब व्यर्थ है, यह ज्ञान का दीपक जलाने का दुरूह कार्य आचार्य करता है, जिसके प्रकाश में गुण व दोषों का स्पष्ट दर्शन करता हुआ साधक गुणग्राही बनकर दोषों का समूलनाश करके कृतकत्य हो जाता है और इस निर्दोष अवस्था को पाकर संसार में संसार के साथ सम्बन्धों में कैसे व्यवहार करें इसका ज्ञान भी गुरु प्रदान करता है। विवाह संस्कार से लेकर-वानप्रस्थ व संन्यास तीन संस्कारों की जिम्मेदारी व्यक्ति की स्वयं की है क्योंकि गुरु कितना भी महान् क्यों ना हो राह तो दिखा सकता है, चलने की शक्ति भी दे सकता है मगर चलना तो व्यक्ति को स्वयं ही होता है। अन्दर से प्रभु की आराधना और बाहर से अपने कर्त्तव्य कर्म की साधना करना यहीं पूर्ण जीवन पाने की कला (Trick) है। अब अन्त में प्रश्न यह उठता है कि संस्कार 16 ही क्यों? 16 कलाओं से पूर्ण व्यक्ति को पूर्ण योगी माना जाता है। 16 कलाओं से युक्त चन्द्रमा पूर्ण चन्द्रमाना जाता है। वैज्ञानिक शोध से यह प्रमाणित किया गया है कि कोई नकारात्मक या सकारात्मक विचार एक बार बालक के चित्त पर गिर गया तो उसे हटाने के लिए 16 बार उससे विरोधी विचार उठाना पड़ता है, तब कहीं जाकर वह पूर्ण परिवर्तित होता है। व्यक्ति अपनी अच्छी या बुरी आदतें या संस्कार खुद बनाता है और फिर वे आदतें या संस्कार उस व्यक्ति को अच्छा या बुरा बना देते हैं।

अतः जीवन के इस निरन्तर प्रवाह में इन 16 संस्कारों के माध्यम से उत्कृष्ट-उत्कृष्टतर व उत्कृष्टतम अवस्था को प्राप्त करना मानव जीवन की पूर्णता को प्राप्त करना है यही हमारी परम पावनी वैदिक ऋषि परम्परा है।

ईशोपनिषद् में कर्मयोग का उपदेश

स्वामी परमार्थ देव
सहायक प्राध्यापक एवं सह कुलानुशासक,
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

इस जगत् में सभी प्राणियों में मनुष्य का जीवन सर्वश्रेष्ठ है अन्य सभी जीव-जन्तु भोग योनि में होते हैं। मनुष्य का जीवन भोग और कर्म दोनों के लिये होता है जिसमें कर्म की प्रधानता होती है। इसलिए परमपिता परमेश्वर ने मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मोन्नति के लिये वेदों का ज्ञान दिया है। वेदानुकूल, शास्त्रनुकूल, आत्मानुकूल आचरण ही सर्वश्रेष्ठ कर्मयोग है।

ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में जीवों को ईश्वर की सत्ता और व्यवस्था के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए अपने कर्मानुसार मिले पदार्थों में ही संतुष्ट रहने और किसी दूसरे के पदार्थ की कभी मन में भी लेने की इच्छा न करने त्याग पूर्वक जीवन जीने का वर्णन करके दूसरे मन्त्र में कर्मयोग का उपदेश दिया गया है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

''मनुष्य इस संसार में धर्मयुक्त, वेदोक्त निष्काम कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार से वेदानुकूल, धर्मानुकूल कर्म में लगे हुए तुझ व्यवहार कुशल नर में अपने मनोरथ से किये गये सकाम कर्म का लेप नहीं रहता है। हे जीव! तेरे विषय में ऐसा ही निश्चय है, इससे भिन्न और कोई मार्ग तेरे लिए नहीं है, जो तुझे कर्म के लेप से पृथक् कर सके।''

वेद मन्त्र के इस उपदेश को हम इस प्रकार से समझ सकते हैं-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्- इस संसार में मनुष्य कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे। हर समय कार्य में लगा रहे। निरर्थक निठल्ला, आलसी, प्रमादी बन करके बैठना श्रेष्ठ मनुष्यों को शोभा नहीं देता क्योंकि ''खाली मन शैतान का घर होता है'' हर समय कुछ न कुछ करते रहना ही जीवन का सबसे बड़ा गुण है।

आलस्य हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति।। भर्तृ. नीति

मनुष्य बाहर के शत्रुओं से तो बच सकता है परन्तु अपने अन्दर बैठे हुए शत्रु से कैसे बच पायेगा यही भाव इस श्लोक का है ''आलस्य मनुष्य के शरीर में बैठा हुआ जो उसका सबसे बड़ा शत्रु है। उद्यम के समान मनुष्य का कोई मित्र नहीं है। उद्योगी मनुष्य जीवन में कभी दुःखी नहीं होता।'' इसीलिये अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ कर्मशील मनुष्य को महान् बना देता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने बहुत सुन्दर लिखा है-

सकल पदारथ है जग माहिं, कर्महीन नर पावत नाहिं।।
कर्मप्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करहिं सो जस फल चाखा।।

ईश्वर को भी वे ही लोग प्राप्त करते हैं जो कर्मशील हैं, जिनके जीवन में जागृति, उत्साह एवं उद्यम है जो सदा सजग एवं संयमी रहते हैं।

वेद का उद्घोष है -

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ।। ऋ॰ 8 ।2।18

विद्वान् लोग कर्मशील मनुष्य को ही चाहते हैं, कर्मशील से ही प्रेम करते हैं। वे सोने वाले, आलसी मनुष्य से प्रेम नहीं करते। आलस्यरहित मनुष्य ही उस आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करते हैं। उपनिषद् अकर्मण्यता से ऊपर उठाकर कर्मण्यता की शिक्षा देती है। उपनिषद् हमें हाथ-पर-हाथ रखकर भाग्य के भरोसे बैठने का उपदेश नहीं देती।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम कर्म तो करें, परन्तु कैसे कर्म करें?

''किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः''

क्योंकि- क्या कर्म है, क्या अकर्म इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् भी असंमजस में पड़ जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण जी ने गीता के उपदेश में बताते हैं कि कर्म तीन प्रकार के हैं-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। गीता. 4 ।17

कर्म, विकर्म और अकर्म तीनों का स्वरूप जानना चाहिए, क्योंकि कर्मों की गति अति गहन है।

कर्म के तीन विभाग हैं- कर्म, विकर्म, अकर्म अर्थात् दूसरे शब्दों

में हम इन्हें सकाम कर्म, निषिद्ध कर्म, निष्काम कर्म के नामों से भी जानते हैं। इन में निषिद्ध कर्म तो सर्वथा त्याज्य हैं। सकाम कर्म बाँधनेवाले और निष्काम कर्म मुक्त करने वाले हैं। हम इस प्रकार का कर्म करें, जो हमें बाँधने वाले न होकर हमारी मुक्ति का कारण बनें। हम सत्कर्म करें, अपने कर्तव्य कर्मों को करें, धर्मानुकूल आचरण करें, दीन-दुःखियों की सहायता और परोपकार, सदाचार, सद्व्यवहार करें ।

''**गहना कर्मणो गतिः**'' कहकर श्रीकृष्ण ने इसके गम्भीर रहस्य को स्वीकार किया है। पुनरपि ज्ञान और कर्म दोनों का जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन का सिद्धान्त यही है- चरैवेति, चरैवेति, चलते रहो, चलते रहो। ''**मा प्रगाम पथो वयम्**'' हम अपने कर्त्तव्य कर्म करने में कभी भी पीछे न हटें। यही प्रेरणा हमें मिलती है। बिना कर्म किये हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। श्रीमद्भगवद्गीता का यह श्लोक इसी भाव को प्रकट कर रहा है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। गीता. 3।5

मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। इसलिये वेदोक्त, शास्त्रोक्त, ऋषिप्रोक्त निष्काम कर्म करो, फल की आसक्ति छोड़ दो। ऐसा करने से कर्मबन्धन नहीं लगेगा। कर्म करते हुए मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएँगे। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है, इसलिये तीन प्रकार के कर्म करता है। धर्मयुक्त, अधर्मयुक्त और मिश्रित, मिश्रित कर्म वे होते हैं जो दान पुण्य तो करता है परन्तु पापाचार से कमाकर करता है। पाप से कमाए गये धन में से प्रदर्शन के लिये थोड़ा सा धन दान कर देना। मनुष्य के पास कर्म करने के तीन ही साधन हैं- 1. शरीर 2. वाणी 3. मन। इन तीन से भिन्न कर्म करने का कोई अन्य साधन नहीं है। अतः **शरीर से-** दीनहीनों की रक्षा करना, माता-पिता, गुरु-आचार्यों एवं बड़ों की सेवा करना अथवा हिंसा, चोरी, व्याभिचार आदि उल्टे कर्म करना। **वाणी से-** सत्य वचन बोलना, प्रिय तथा हितकर वचन बोलना और स्वाध्याय उपदेशादि करना अथवा कर्म असत्य बोलना, कठोर, अहितकारी वचन बोलना और असंयमित वार्तालाप, विवाद करना आदि। **मन से-** पवित्र भाव दया अस्पृहा, श्रद्धाभाव रखना अथवा मन में ईर्ष्या द्वेष के भाव और ईश्वर एवं वेदशास्त्रों के प्रति नास्तिक भाव रखना।

कर्म के तीन प्रकार के भेद और हैं- नित्य, नैमित्तिक और काम्य।

नित्यकर्म वे कहलाते हैं- जो प्रातः चार बजे उठकर, सायं सोने तक शौच, स्नान, खान-पान और जीविका सम्बन्धी कार्यों को करना।

नैमित्तिक कर्म वे हैं- जो किसी निमित्त किये जाते हैं।

काम्यकर्म- उन्हें कहते हैं जो किसी विशेष कामना को लेकर किये जायें। जैसे-पुत्रेष्टियज्ञ, वृष्टियज्ञादि=पुत्र की प्राप्ति हेतु अथवा वर्षा हेतु यज्ञ किया जाये।

कर्म के तीन भेद और हैं- सकाम, निष्काम और निरर्थक। सकाम कर्म वे होते हैं-जो मन में फल की इच्छा रखकर किये जायें अर्थात् इच्छानुसार कर्मफल चाहना। जिसके फलस्वरूप मनुष्य कर्मानुष्ठान में पूरा ध्यान नहीं दे पाता और ऐसे ही कर्म बन्धन के हेतु हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में वेदोक्त सकाम प्रवृत्ति मार्ग से हटाकर निवृत्ति मार्ग की ओर प्रेरित किया है ।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। गीता. 2।47

निष्काम कर्म वे हैं-जिनमें स्वेच्छा का परित्याग करके, अर्थात् फलासक्ति को छोड़कर योगस्थ होकर कर्त्तव्य परायणता से किये जायें। जो फ़ल ईश्वर पर छोड़ दिया जाये। एकाग्रचित्त होकर कर्म करें, उस कर्म की सिद्धि-असिद्धि दोनों में समता का भाव रखें। इस प्रकार के कर्म बन्धन से मुक्त कराते हैं। यही सच्चा कर्मयोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। गीता 2।48

निरर्थक कर्म वे हैं-जो सब के लिये हानिकारक होते हैं जिनसे कोई लाभ नहीं होता। ईशोपनिषद् के इस दूसरे मन्त्र में सौ वर्षों तक जीने की बात कही है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चारों वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनमें सौ वर्षों तक जीने का उपदेश दिया गया है, जैसा कि- **शतं समाः-** कर्म करते हुए कब तक जीते रहें? मन्त्र का यह भाग उत्तर देता है 100 वर्ष तक।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधता पर्वतेन।। ऋ. 10।18।4

''मैं मनुष्यों के लिए यह परिधि निश्चित करता हूँ कि सभी मनुष्य सौ वर्ष और उससे भी अधिक जीवें। कोई भी मनुष्य सौ वर्ष से पूर्व न मरे। यदि सौ वर्ष से पूर्व मृत्यु आ जाए तो उसे पुरुषार्थ के द्वारा परे भगाओ।'' हम सदा यह स्मरण रखें कि मनुष्य का जन्म आत्मकल्याण और विश्वकल्याण के लिये हुआ है। इसलिये हर क्षण हर पल हमको श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान में लगे रहना चाहिये। कार्यों को आज कल में टालने का प्रयास न करें। क्योंकि-

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
मृत्युर्नहि प्रतीक्षेत कृतं वाऽस्य न वा कृतम् ।। गीता. 18.2

जो कल करना है वह आज कर, जो दोपहर करना है वह दोपहर से पहले कर। मृत्यु यह प्रतीक्षा नहीं करती कि इसका कार्य पूर्ण हुआ या नहीं।

''काल करे सो आज कर, आज करे सो अब
पल में परलय होयगि, बहुरि करोगे कब''

अतः इस मन्त्र से हमको यह शिक्षा मिलती है कि हम सदा, सर्वदा कल्याणी, वेदवाणी के द्वारा दिये गये उपदेश विधिनिषेध को ध्यान में रखते हुए वेदोक्त कर्मों को करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें, जो कुछ भी कर्म करें वह सब ईश्वर को अर्पण करते हुए करें।

गुरुसत्ता, सेवा व संगठन की महिमा

डॉ. साध्वी देवप्रिया, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा-दर्शन विभाग, पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

हम सब अपनी-अपनी रुचि व सामर्थ्यानुसार पतंजलि योगपीठ हरिद्वार से जुड़े हैं। पतंजलि योगपीठ के बहुआयामी विस्तृत स्वरूप के परिचय से पूर्व हम यह जानने का प्रयास करें कि मूल रूप में पतंजलि योगपीठ क्या है? एक आध्यात्मिक संस्था है। इसका आधार क्या है? पतंजलि योगपीठ का मूल तत्व है सेवा, उस सेवा का माध्यम है-योग, आयुर्वेद एवं स्वदेशी, **इस त्रिविध सेवा का शरीर है- संगठन या संस्थान और उस संगठन एवं संस्थान रूपी शरीर के प्राण हैं आयुर्वेद शिरोमणि श्रद्धेय आचार्य श्री व इस शरीर की आत्मा है- एक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, हार्दिक आत्मिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक व यौगिक दिव्य भागवत् शक्ति से सम्पन्न एक जागा हुआ सन्यासी। इस संस्थान का प्रारम्भ से लेकर आज तक तथा आगे भी मूल उद्देश्य है मानवता व समष्टि की सेवा।** माध्यम है- संगठन और संस्थान तथा इस सबके पीछे दृष्ट शक्ति है-गुरु तथा अदृष्ट शक्ति है-भगवान् अतः इस संगठन या संस्थान से जुड़ने से पूर्व इन तीन तत्वों का (सेवा, संगठन व गुरु की महिमा) बौद्धिक चिन्तन, मनन, ज्ञान अवश्य ही कर लेना चाहिये, पारमार्थिक अर्थ तो सेवा करते-करते स्वतः ही हमारे समक्ष उपस्थित हो जायेगा।

श्रद्धेय स्वामी जी महाराज कहते हैं कि जीवन में जब हम किसी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, समर्थ गुरु के पास जाते हैं तो हममें सेवा, निष्ठा का भाव जागृत होता है गुरु के प्रति निष्ठा व सेवा का भाव होने से संगठित होकर जीवन में सेवा और साधना करते हुए हम पूर्णता की ओर आगे बढ़ते हैं।

i.) गुरुतत्व की महिमाः

गुरुतत्व के सन्दर्भ में तीन बातों पर हमारे सभी साधक भाई-बहनों को गंभीरता से विचार करके गुरु की शरणागति में ही एक आध्यात्मिक दिव्य जीवन जीने के लिए पूर्ण समर्पित या प्रतिबद्ध होना चाहिये।

1. अदृष्ट सत्य का दर्शयिताः

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ समर्थ गुरुसत्ता व ऋषि परम्परा के आश्रय के बिना जीवन में नये आध्यात्मिक सत्य घटित नहीं हो सकते क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में दो तरह के सत्य हैं एक है- दृष्ट सत्य अर्थात् ईश्वर का ज्ञात, मूर्त्त, दृश्य, व्यक्त, प्रत्यक्ष तथा विश्वमय रूप का दर्शन तथा दूसरा है- अदृश्य, अज्ञात, अमूर्त, अव्यक्त, परोक्ष एवं विश्वातीत ब्रह्माण्ड की अनुभूति एक ब्रह्मवेत्ता गुरु के सान्निध्य से ही हो सकती है।

2. दिव्य आलम्बनः

बिना सात्विक आलम्बन के आध्यात्मिक जीवन की यात्रा को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। आधार या आलम्बन के बिना दुनिया में किसी भी जड़ या चेतन तत्व का अस्तित्व नहीं है। सांसारिक जीवन हो या फिर आध्यात्मिक जीवन हमें कोई न कोई आश्रय, आधार, आलम्बन या सहारे की आवश्यकता होती ही है। आध्यात्मिक जीवन में भगवान् की प्राप्ति या भगवान् की अनुभूति के लिये प्रत्यक्ष गुरुसत्ता का आलम्बन ही एकमात्र मार्ग है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायापास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। (मुण्डक.-1/12)

अर्थात् 'कृत' से 'कृत' ही पाया जा सकता है, जिसकी उत्पत्ति है और विनाश है वही मिल

सकता है। 'कृत' से 'अकृत' नहीं मिलता। ब्रह्म तो 'अकृत' है, उसकी उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं। 'अकृत' को 'अक्रतु' ही पा सकता है। 'तमक्रतुः पश्यति'। उस 'अकृत' को जानने के लिए समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणों में उपस्थित होना आवश्यक है। समित्पाणि का अभिप्राय है हाथ में तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा रूपी तीन समिधाएं लेकर गुरु के पास शिष्य जाये। गुरु अग्नि स्वरूप है और शिष्य उस ज्ञानाग्नि रूप गुरु में स्वयं को समर्पित करके तद्रूप होना चाहता है, अग्नि स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, गुरु स्वरूप, गुरु का प्रतिरूप होना चाहता है।

3. शाश्वत का प्रतिनिधिः

भगवान् का हम वैज्ञानिक प्रत्यक्ष दृष्ट या मूर्त्त प्रमाणों से अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकते। आत्मकार्य सिद्धान्त, सृष्टि चक्र, विज्ञान, कर्मफल व न्याय व्यवस्था सिद्धान्त आदि के आधार पर हम भगवान् का अस्तित्व मानते हैं। कारणाभावात् कार्याभावः (वैशे- 1/32)। अर्थात् कारण के अभाव से कार्य का अभाव हो जाता है जैसे धागे के अभाव में वस्त्र का अभाव तथा मिट्टी के अभाव में घड़े का अभाव दिखाई देता है। मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य है। इसी प्रकार यह संसार कार्य है और भगवान् इसका निमित्त कारण है। इसलिए संसार को देखकर इसके बनाने वाले ईश्वर का अनुमान तो होता है परन्तु वह कैसा है, इसका ज्ञान तो केवल कोई समर्थ गुरु ही करा सकता है। मूलतः ब्रह्म एक अदृष्ट परम सत्य या परमसत्ता है। गुरु भगवान् की दिव्यता से अभिभूत ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वरीय संवदेना व ईश्वरीय शक्ति के मूर्तरूप होते हैं उनमें साधना व सेवा के द्वारा ईश्वरीय दिव्यता अवतरित हो जाती है, वे इस ईश्वरीय सत्ता या शाश्वत के प्रतिनिधि या प्रतिरूप या मूर्तरूप होते हैं। ऐसे समर्थ गुरुसत्ता या आप्त पुरुषों का पावन सान्निध्य, सत्संग, मार्गदर्शन व शरणागति ही हमारे जीवन का परमसौभाग्य व परमकल्याण है।

4. दिव्य रूपान्तरण का कर्ताः

गुरु की महिमा को समझना यद्यपि भगवान् की महिमा को समझने जैसा है परन्तु फिर भी यथाशक्ति ग्रहणशीलता का प्रयास तो किया ही जा सकता है यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन का समस्त आमूल-चूल दिव्य रूपान्तरण करना चाहता है तो उसका एकमात्र आधार गुरु ही है। गुरुतत्त्व वह है जो हमारी आन्तरिक मूर्छा को तोड़कर हमें जगा दे, स्वयं से परिचय करा दे और अन्त में अपने जैसा बना दें। गुरु उस पारस के समान नहीं है जो लोहे को सोना बना दें अपितु वह तो उस भृंगी कीट की भाँति है जो भिन्न-भिन्न जाति के कीड़े अपने मिट्टी के घर में बन्द करके एक निश्चित अवधि के बाद उन्हें अपने ही स्वरूप वाला बनाकर बाहर निकलता है और तब तक बाहर की बाकि सब अवाजें बंद करके उसे एक ही आवाज सुनाता है कि तू भृंगी है। हमारे दोषों के दर्शन तो अनेक लोग ऊँगली उठाकर करते-कराते रहते हैं परन्तु उनके उन आरोपों या दोषारोपण से कोई परिवर्तन जीवन में नहीं आ पाता है जबकि पूज्य आचार्य श्री व श्रद्धेय स्वामी जी महाराज की कृपा से करोड़ों लोगों के जीवन में भिन्न-भिन्न प्रकार के दिव्य परिवर्तन घटित हुए हैं। कई बार हम गुरु को ही नसीहत या सुझाव देने लगते हैं कि स्वामी जी देश में कुछ ऐसे भी लोग हैं जो दूर-दराज गाँवों में रहते हैं, गरीब हैं, ज्यादा पढ़े-लिखे भी नहीं हैं, रोगी होने पर इलाज भी नहीं करा पाते, हमें उनके बारे में भी कुछ सोचना चाहिये। फिर स्वामी जी उत्तर देते हैं इस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही मैंने तुम्हारा चयन किया है।

5. अनन्त धैर्य, प्रेम व करुणा के अवतारः

गुरु के बारे में श्री अरविन्द लिखते हैं कि गुरु में माँ के समान अनन्त करुणा व प्रेम तथा पिता के समान अनन्त धैर्य होता है और इस रूप का दर्शन मैंने अपने गुरुदेव श्रद्धेय स्वामी जी महाराज में किया है। अतः भगवान् की अहैतुकी कृपा से ऐसा गुरु हमारे पास है। स्वयं भगवान् और गुरु आपके शरीर के माध्यम से एक बड़ी दिव्य अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। क्या आप उन्हें वैसा करने देंगे? यदि हाँ, तो आपको अपने भाव, विचार, वाणी और क्रिया में एकरूपता लाते हुए सेवा, संगठन, संस्थान व गुरु की महिमा को जानते हुए निर्भय तथा निर्द्वन्द्व होकर पतंजलि योगपीठ से जुड़ जाना चाहिये। जब कभी चेतना का स्तर नीचे की ओर जाने लगे तो आपको दृढ़तापूर्वक यह संकल्प दोहराना चाहिये कि **"मैं अपने भगवान् और गुरु की अमानत हूँ और कोई भी अशुभ मुझे छू नहीं सकता है"** जब व्यक्ति गुरु के प्रति खुला हुआ या ग्रहणशील होता है तब गुरु कृपा उसके अन्दर तुरन्त प्रवेश कर जाती है और ऐसे चमत्कार घटित होते हैं कि वर्षों का कार्य कुछ दिनों में तथा कभी-कभी तो कुछ घंटों में भी सम्पन्न हो जाता है। व्यक्ति को लगता है कि मेरे जीवन में तो हँसते-खेलते सहज रूप से दिव्य रूपान्तरण घटित हो रहा है।

ii.) सेवा का स्वरूपः

"सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्य।" यद्यपि यह सेवा तत्त्व इतना गहन व गम्भीर है कि योगियों को भी यह बहुत कठिनता से ही समझ में आता है फिर भी इस तत्त्व के बारे में चिन्तन करना अत्यावश्यक है। सेवा से अभिप्राय है जब हम अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक, वाचिक या आत्मिक आदि किसी भी प्रकार की शक्ति को आंशिक रुप में बिना किसी स्वार्थ के, आत्म संतुष्टि हेतु दूसरों के हित के लिए खर्च करते हैं यह सेवा है। श्रद्धेय स्वामी सोमानन्द जी महाराज के शब्दों में अपनी ही इच्छा से दूसरे के दुःखों को गले से लगाना ही सेवा है। सेवा की कभी कीमत नहीं आंकी जा सकती है क्योंकि सेवा अमूल्य होती है। सेवा वह द्वार है जिसमें वह प्रवेश करके हम सहज ही उस आनन्द तक पहुँच जाते हैं, जहाँ योगियों का बड़ी-बड़ी तपस्याएं करके पहुँचना सम्भव है। जो शक्ति, सामर्थ्य व आनन्द किसी स्वामी (मालिक) को अत्यन्त अथक पुरुषार्थ करके प्राप्त हो पाता है वह एक सेवक को सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

1. तीन प्रकार की सेवाः

तामसिक, राजसिक व सात्विक रुप में सेवा तीन प्रकार की होती है। योग और अध्यात्म के माध्यम से की जाने वाली सेवा सात्विक सेवा है। सात्विक वैचारिक सेवा के रूप में हमारे पूर्वज, ऋषि-मुनि-योगी प्रतिदिन प्रार्थना किया करते

थे-"**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्**" क्योंकि जिस प्रकार का हम चिन्तन, विचार करते हैं, उसी प्रकार की शक्तियों को हम इस धरती पर आकर्षित व अवतरित करने का आह्वान करते हैं। सेवा और कर्म में प्रकाश और अंधकार जैसा अंतर है। **एक तरफ सामान्य कर्म हमारे बन्धन का कारण है तो दूसरी तरफ दिव्य कर्म या सेवा हमारी मुक्ति का द्वार है।** आप अपने घर में झाड़ू लगाते हैं और एक मंदिर में जाकर लगाते हैं, एक मकान अपने घर में बनाते हैं और दूसरा किसी मंदिर, आश्रम, स्कूल या धर्मशाला में बनवाते हैं दोनों का अनुभव (Feeling) अलग होता है, यद्यपि जागरूक न रहें, तो वहाँ भी अहंकार, स्वार्थपरता, एषणा आदि का प्रवेश सेवा को नष्ट कर सकता है,

2. अनन्त सुख सौभाग्य का आधार सेवाः

प्रत्येक व्यक्ति को दिन भर में कम से कम एक दो घण्टे तो ऐसे सार्थक सृजनात्मक व लोक हितकारी कर्म अवश्य करने चाहिये जिनमें उनको सांसारिक दृष्टि से कोई फल मिलने की आशा नहीं है, परन्तु यह है बहुत आवश्यक क्योंकि यही निःस्वार्थ सेवा हमारे इस जीवन के अदृष्ट सौभाग्य अर्थात् यह सेवा अनन्त गुणा होकर हमारे वैयक्तिक, पारिवारिक व्यवसायिक व अध्यात्मिक जीवन में सुख, समृद्धि, सफलता व शान्ति का कारण बनती है तथा पुनर्जन्म में भी हमारे साथ जाती है पैसा तो इस जीवन का यही रह जाता है सेवारूपी पुण्य ही हमारे पुनर्जन्म के माता, पिता, कुल, गुरु, सफलता व समृद्धि का कारण बनती है। इसे ही समाज व शास्त्र में श्रेष्ठ प्रारब्ध या ऊँची किस्मत या भाग्य भी कहते हैं। सच्चा सेवा तत्व इस धरती पर भगवान् का वरदान है। परम सौभाग्यशाली हैं वे लोग जिन्हें यह अनमोल तत्व रत्न उपलब्ध हो गया है।

सेवा का फलः

क. बाह्य फलः योग एवं सेवा का फल क्या है- इसका इस संसार में सबसे बड़ा उदाहरण है पतंजलि योगपीठ, पूज्य आचार्य श्री व श्रद्धेय स्वामी जी का जीवन। पतंजलि की सामाजिक, आर्थिक व आध्यात्मिक सफलता व पूज्य आचार्य श्री व श्रद्धेय स्वामी जी का पुण्यों से प्रकाशित दिव्य जीवन। जिसमें इस भौतिक व आध्यात्मिक जीवन की सफलता का एक आदर्श रूप दिखता है यह सब योग ध्यान, भगवान् की भक्ति उपासना एवं सेवा का ही तो फल है।

ख. आन्तरिक फलः जिस प्रकार अन्नादि आहार शरीर की पुष्टि एवं तृप्ति के कारण बनते हैं उसी प्रकार सेवा हमारे आन्तरिक अस्तित्व, मन-बुद्धि, प्राण, हृदय व आत्मा की पुष्टि, तृप्ति व उत्कर्ष का कारण बनती है। एक सच्चे सेवक को अतिरिक्त साधन की आवश्यकता नहीं होती। हमारे आन्तरिक अस्तित्व की शुद्धि पवित्रता एवं अहंकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि दोषों के नाश का कारण बनती हैं क्योंकि सेवा करते समय व्यक्ति को विविध प्रकार के लोगों के बीच, विविध संस्कारों, मान्यताओं, रुचियों व धारणाओं वाले व्यक्तियों के बीच रहना पड़ता है। वे अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थियाँ हमारे द्वन्द्वों की नाशक तथा द्वन्द्व सहन कर तपस्या करवाने की कारण बन जाती हैं। जागरूक सेवक व्यक्ति प्रत्येक घटना या परिस्थिति को भगवान् का उपहार समझकर स्वीकार करता है तथा उस उपहार को भगवान् का अनुग्रह कृपा सन्देश समझकर जीवन में आगे बढ़ जाता है। श्रद्धेय स्वामी सोमानन्द जी महाराज कहा करते थे- सेवक को ना कहने का अधिकार नहीं होता है। वे कहते थे- 'सेवक तो कोई बिरला है, जो आठों पहर रहे जाग'।

अतः जिन आत्माओं को आगे जन्म-मरण का कारण तैयार नहीं करना, कोई कर्माशय नहीं बनाना अपितु जीवन मुक्त होकर जीने की इच्छा है, या फिर भगवान् ने उनको मोक्षाधिकारी के रूप में चुन लिया है केवल वही आत्माएं इस सेवा तत्व का या सेवाकर्म का चयन करती हैं।

सेवा के आदर्शः

क. समष्टिगत दैवी शक्तियाँः प्रकृति में धरतीमाता, सूर्य, चन्द्रमा, वायु आदि दिव्य शक्तियाँ हमारे लिए सेवा के आदर्श है, क्योंकि इस सृष्टि में जो कुछ भी सृजन या क्रिया हो रही है, उसके मूल आधार ये दिव्य शक्तियां ही हैं। इनके अभाव में कोई भी कर्म होना सम्भव नहीं है, फिर भी ये मौन सेवा करते हुए कभी श्रेय लेने हेतु ताली नहीं बजवाना चाहते, मंच पर चढ़ने की आकांक्षा नहीं रखते अपितु सब क्रियाओं का श्रेय हम मनुष्यों को लेने देते हैं।

ख. आदर्श महापुरुषः चेतन आत्माओं में शबरी, केवट, हनुमान जी आदि के उदाहरण हमारे लिए आदर्श है, लेकिन कुछ लोग रामायण और उसके उच्चादर्श चरित्रों को काल्पनिक मानते हैं, ऐसे जड़ बुद्धि वाले लोग सेवा के आदर्श के रूप में साक्षात पूज्य आचार्य जी तथा श्रद्धेय स्वामी जी महाराज को देख सकते हैं। आज पतंजलि योगपीठ के माध्यम से जो कुछ भी इस देश और दुनिया में हुआ, उस सब क्रिया मात्र का मूल कारण हैं- पूज्य आचार्य जी व स्वामी जी महाराज की सेवा, तप व पुरुषार्थ। परन्तु सब कुछ का मूल कारण होते हुए भी वे सदा श्रेय दूसरों को ही देते हैं। कभी भी हमने उनको कर्तृव्य के अहंकार से युक्त होते नहीं देखा अर्थात् सब कुछ करते हुए भी कुछ भी न करने जैसी विनम्रता इतना अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ करने के बावजूद भी भाग्य या कर्माशय की कोई रेखा उन्होंने अपनी हथेली पर नहीं पड़ने दी। **संसार में सबसे बड़ा सौभाग्यशाली वही है जिसके हाथ में कोई भाग्य की रेखा नहीं है अर्थात् जिसने पुण्यात्मक कर्माशय भी नहीं बनने दिया अपितु निष्काम सेवा से जीवनमुक्त पद को प्राप्त किया है। अखण्ड प्रसन्नता, विनम्रता व दिव्यता से युक्त उनका जीवन हमारे लिए सेवातत्व का उच्च आदर्श है। इसलिए सेवा करते समय शास्त्रदि का ज्ञान ज्यादा ना हो तो भी पूज्य आचार्य जी व श्रद्धेय स्वामी जी महाराज के आचरण, वाणी व व्यवहार व जीवन को अपने सामने रख लेना सेवातत्व के कोहिनूर से स्वतः परिचय हो जायेगा।**

iii.) संगठन का स्वरूपः

पूज्य स्वामी जी महाराज बार-बार एक बात को कहते हैं कि योग, अध्यात्म एवं सामाजिक जीवन का एक बहुत बड़ा सत्य है कि मनुष्य इस धरती पर भगवान् की सर्वश्रेष्ठ रचना है तथा उसका इस संसार के प्रति सबसे बड़ा उत्तरदायित्व भी है। हमारे अस्तित्व अर्थात् हमारे जन्म से लेकर अन्तिम श्वास मृत्यु तक

इस समष्टि समाज या संसार का हम पर बहुत बड़ा उपकार है। अतः एकाङ्गी जीवन व एकाङ्गी दृष्टिकोण यह जीवन के लिए शुभ नहीं होता। स्वयं योग करना तथा कराना, स्वयं पुरुषार्थ व धर्मार्थ साधना व सेवा करना तथा कराना, स्वयं सत्य, धर्म, न्याय, भगवान् व वेद के मार्ग पर चलना तथा औरों को चलाना स्वयं देशभक्त होना तथा दूसरों को भी राष्ट्रभक्त बनाना, स्वयं स्वदेशी का प्रयोग करना अन्यों को भी स्वदेशी के मार्ग पर लाना यह है- संगठन एवं संगठित जीवन का मूल सिद्धान्त।

संगठन उस शक्ति को कहते है- जिसमें अनेक दिव्य आत्माएं एक साथ किसी विराट् उद्देश्य की पूर्ति हेतु किसी एक आदर्श व्यक्तित्व के आदेशानुसार अपनी वाणी, व्यवहार, आचरण, क्रियाएं व जीवन की यात्रा को आगे बढ़ाते हैं। ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त 'संगठन सूक्त' भी हमें संगठन की महिमा को बतलाता है। संगठन में भिन्न आत्माएं होते हुए भी उन सबके विचार, मनन, सिद्धान्त, चित्त, हृदय तथा लक्ष्य एक समान होते हैं। जिस प्रकार रेलवे स्टेशन पर अनेकों प्लेटफॉर्म होते हैं, अनेकों यात्री होते हैं, पर उनमें से कुछ यात्री किसी एक विशेष प्लेटफॉर्म पर चुपचाप एकत्रित हो जाते हैं, ये वे यात्री हैं जिनकी यात्रा का लक्ष्य एक ही दिशा में है, उसी दिशा में, उसी ट्रेन से सबको आगे बढ़कर अपने लक्ष्य पर पहुँचना है, इसलिए वे जाति, धर्म, वर्ग, समूह, मजहब, प्रान्त, भाषा, वेशभूषा, मान्यता आदि के सब दृश्य भेदों से ऊपर उठकर एक साथ आनन्द से ट्रेन में यात्रा करते हैं।

संगठन की महिमा:

संगठन का सबसे बड़ा जीवन्त उदाहरण है हमारा शरीर में करोड़ों सूक्ष्म कोशिकाएं, उनसे बनने वाले ऊतक, अवयव, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण चतुष्टय है। एक छोटे से पिण्ड में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाहित है।

क. किसी भी बड़ी उपलब्धि का आधार-संगठन: व्यक्ति का अपना अस्तित्व, घर, समाज या सम्पूर्ण राष्ट्र एक संगठन का ही स्वरूप है, व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर की कोई बड़ी उपलब्धि कभी भी संगठन के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती है। जैसे व्यक्तिगत बड़ी उपलब्धि हेतु **व्यक्ति को अपने भाव, विचार, वाणी, व्यवहार, क्रिया, शरीर, मन-बुद्धि, इन्द्रियां, हृदय व आत्मा को एक ही प्लेटफार्म पर अर्थात् एक ही दिशा में लगाना होता है, यदि ये सब भिन्न-भिन्न दिशाओं में गति करें तो व्यक्तिगत रूप से कोई बड़ी उपलब्धि हासिल नहीं हो सकती है इसी प्रकार परिवार के सब सदस्यों के एकमत होने से पारिवारिक, सामाज व राष्ट्र के किसी लक्ष्य विशेष के हेतु एकजुट होने से सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर पर बड़ी उपलब्धि हो सकती है।** प्रकृति से भी हम संगठन की महिमा को समझ सकते हैं। चींटी या मधुमक्खी यद्यपि छोटा सा प्राणी है, मनुष्य उसकी तुलना में अत्यन्त विराट् है किन्तु वही छोटा सा प्राणी जब संगठन के रूप में संगठित हो जाता है तो बलवान् से बलवान् व्यक्ति भी उनकी शक्ति से डरकर उन्हें कोई क्षति पहुँचाने का दुस्साहस नहीं कर पाता। इसी प्रकार **साधारण से दिखने वाले व्यक्ति भी जब किसी एक प्रबल नेतृत्व के सानिध्य में एकत्रित हो जाते हैं, तो वे असाधारण कार्य कर दिखाते हैं। पतंजलि योगपीठ इसका साक्षात प्रमाण है।** इसी प्रकार कौओं का या बन्दरों का संगठन भी जग विख्यात है।

संगठन में गुरु निर्देश सर्वोपरि:

जो व्यक्ति संगठन की शक्ति व महिमा को पहचानते हैं वे संगठन के निर्देशों का सम्मान, पावन वेदमंत्रों के समान करते हैं। महत्त्वपूर्ण यह नहीं होता कि वह निर्देश किसके माध्यम से मिला, महत्त्वपूर्ण यह है कि- निर्देश मेरे गुरु का है और गुरु इस धरती पर भगवान् का ही सगुण, साकार रूप हैं, इसलिए एक तरह से यह निर्देश मेरे भगवान् का ही है। जो पुत्र अपने माता-पिता से अत्यन्त प्रीति व विश्वास करता है वह उनका पत्र मिलने पर यह ध्यान नहीं देता कि पत्र कौन-सा डाकिया लेकर आया, अपितु उसका ध्यान तो इस पर होता है **कि पत्र में क्या संदेश मेरे लिए आया है।** इसी प्रकार संगठन में भी किसी एक गुरु के निर्देशानुसार सर्वहितकारी किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सब उसी दिशा में यथाशक्ति पुरुषार्थ करते हैं।

संगठन की कार्य पद्धति:

क. अनासक्ति का भाव: संगठन में सेवा करने हेतु, संगठन के मूल व्यक्ति के प्रति श्रद्धा, निष्ठा व विश्वास तथा अपने व्यक्तिगत आसक्तियों, आग्रहों व मान्यताओं का त्याग करना होता है। यदि अनासक्ति का भाव नहीं है तो व्यक्ति के माध्यम से कोई बड़ी अभिव्यक्ति नहीं हो पायेगी, संगठन कार्यों की शिथिलता का हेतु देते समय वह अपने ही परिवार की, दुकान की, बिजनेस की, मजबूरी गिनाता रहेगा। आसक्ति के कारण अपने विचारानुकूल 2-4 लोगों के ग्रुप विशेष में ही अटककर रह जायेगा। आसक्ति के कारण दोष होने पर भी अयोग्य व्यक्ति का त्याग और योग्य व्यक्ति का सम्मान या स्वीकार नहीं कर पायेगा। संगठन में सेवा करने के लिए व्यक्ति को मोहन बनना पड़ेगा। अर्थात् मोह+न। मोहन नाम ईश्वर का है। वह सबसे प्रेम तो करता है, पर मोह नहीं करता इसीलिए सबके साथ न्याय कर पाता है और इतने बड़े सृष्टि रूपी संगठन को कुशलता से चला पाता है।

क. हृदय की विशालता: संगठन में सेवा करने के लिए व्यक्ति को गणेश भी बनना पड़ता है अर्थात् 'गणाना ईश इति गणेश'। गणेश के बड़े कान व बड़ा पेट इस बात का प्रतीक है कि गण के स्वामी को सबकी पूरी बात सुननी चाहिये और सुनकर उसे अपने पेट में डालकर डायजेस्ट भी करना आना चाहिये, अगर ऐसा नहीं होगा तो किसी एक पक्ष की बात सुनकर वैसा आग्रह बनाकर दूसरे के साथ न्याय नहीं कर पायेगा और फलस्वरूप संगठन का विस्तार नहीं ह्रास ही होगा। संगठन में पूज्य आचार्य श्री व श्रद्धेय स्वामी जी महाराज सबसे ज्यादा सेवा निरन्तर करते हैं और उसका श्रेय कभी अपने मुख से स्वयं को नहीं देते सबका सम्मान, सबके साथ प्रेम, सबके साथ निर्वैर तथा निरहंकार अवस्था में रहते हुए संगठन के नेतृत्व का आदर्श, हमारे समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्रकार का सेवानिष्ठ, निष्कपट आचरण करते हुए पिछले लगभग दो दशक में उन्होंने इस विराट् लक्ष्य की यात्रा को वर्तमान पड़ाव तक पहुँचाया है, हम सब उसका शतांश आचरण भी करें तो जीवन में संगठन के माध्यम से काफी बड़ी उपलब्धि को पाया जा सकता है। ■

गुरु की महिमा कोई न जाने

डॉ. साध्वी देवप्रिया, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा- दर्शन विभाग, पतंजलि विश्वविद्यालय

प्रतिवर्ष आषाढ़ माह की पूर्णिमा को हम गुरु पूर्णिमा के रूप में मनाते हैं लेकिन कभी सदियों के बाद ऐसा संयोग बनता है कि असली शिष्य और किसी समर्थ गुरु का मिलन होता है, जिससे वे दो आत्माएं ही नहीं अपितु यह समस्त धरा धन्य हो जाती है और तब सच्ची गुरु पूर्णिमा मन जाती है। यह गुरु-शिष्य का मिलन बड़ी अद्भुत घटना है, बड़ी महान् है और सम्बन्धों की श्रृंखला में सर्वोच्च सम्बन्ध है क्योंकि इस सम्बन्ध में पवित्रता, ज्ञान, अहंकार शून्यता, विवेक, निःस्वार्थता, सेवा व समर्पण की पराकाष्ठा होती है।

आदिकाल से अद्यपर्यन्त ये घटनाएं घटित होती ही आयी हैं-गुरु वशिष्ठ व राम, घोर ऋषि व कृष्ण, श्रीकृष्ण व अर्जुन, समर्थ गुरु रामदास व छत्रपति शिवाजी, चाणक्य व चन्द्रगुप्त, रामकृष्ण परमहंस व विवेकानन्द, गुरु विरजानन्द व ऋषि दयानन्द आदि नाम इस पावनी परम्परा के गौरव हैं। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि पहले गुरु का अस्तित्व होता है या शिष्य का? यह ऐसी ही जिज्ञासा है जैसे कि पहले माँ का अस्तित्व है या बच्चे का? स्थूल दृष्टि से देखें तो झट से उत्तर आता है कि गुरु और माँ का अस्तित्व पहले है लेकिन गम्भीरता से विचार करें तो दोनों का अस्तित्व साथ-साथ विकसित होता है इसीलिए वेदमन्त्र में कहा-**'सह वीर्यं करवावहै'** क्योंकि जब तक बच्चा गर्भ में न आये तब तक कोई महिला माँ नहीं बनती। जैसे ही शिशु गर्भ में आता है, वह माँ बनना शुरु हो जाती है और जैसे ही बच्चे का जन्म होता है वह माँ बन जाती है अर्थात् मातृत्व प्रकट हो जाता है, माँ के स्तनों में दूध उतर आता है। उसी प्रकार शिष्यत्व का जन्म होते ही गुरुत्व प्रकट हो जाता है। शिष्यत्व से अभिप्राय है-श्रद्धा, सत्य, अभिप्सा, पवित्रता, विवेक, वैराग्य, आत्म निग्रह, निष्काम सेवा, तत्त्व चिन्तन, समर्पण और अध्यवसाय अर्थात् सत्य को पाने का दृढ़ निश्चय, उपरोक्त ये 10 गुण जब हममें आ जाते हैं तो शिष्यत्व अभिव्यक्त हो जाता है और तभी गुरुत्व भी प्रकट होता है, उससे पहले नहीं। तभी गुरु हमारा रूपान्तरण करना शुरु कर देते हैं। किन्तु यह शिष्यत्व का जन्म होना बहुत बड़ी घटना है और इसकी समाप्ति भक्त बनने में होती है।

भक्त का अभिप्राय है- प्रतिरूप होना, उसी के जैसा हो जाना या वही हो जाना। गीता में आधी गीता तक अर्जुन में शिष्यत्व का जन्म नहीं हुआ यद्यपि द्वितीय अध्याय में उसने कहा कि **'शिष्यस्ते अहं शाधि मां त्वां प्रपन्न'** परन्तु यह कहकर भी अर्जुन

उलटा कृष्ण को ही उपदेश देते रहे जैसे कि वह कृष्ण से ज्यादा समझदार है। हम भी शिष्य तो बनना चाहते हैं लेकिन अपनी समझदारी का अहङ्कार भी कुछ कम नहीं है। रूपान्तरण तो चाहते हैं किन्तु चाहते हैं अपने तरीके से, जो हमें अनुकूल पड़े, जो हमें प्रिय लगे। हमारा मन अपनी ही प्रकार की योजना बनाता रहता है और शिष्यत्व के जन्म की पहचान यह है कि हमारा मन चुप हो जाये, शान्त हो जाये तथा गुरु के हर फैसले पर हमें विश्वास होने लगे।

इसी प्रकार गुरुत्व का जन्म अनन्त धैर्य के साथ होता है। अनन्त धैर्य होना इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह अनन्त जन्मों के संस्कारों को बदलकर इसे मनुष्य से देवता बना रहा है। इस परिवर्तन में समय, शक्ति की आवश्यकता तो होती ही है। यदि धैर्य नहीं होगा तो गुरु कहेगा- इतने दिन हो गये इसे ज्ञान सुनाते-सुनाते, कोई परिवर्तन नजर नहीं आ रहा, मैं किसी अच्छे शिष्य को पकड़कर लाऊँगा। इसी प्रकार शिष्य में भी धैर्य की परम आवश्यकता है, यदि इसमें धैर्य (Patience) नहीं होगा तो रोगी (Patient) बन जाएगा क्योंकि स्वास्थ्य का सम्बन्ध केवल शारीरिक ही नहीं अपितु मानसिक, बौद्धिक व आत्मिक भी है। यदि धैर्य नहीं होगा तो जब लोग ताने मारेंगे, हंसी उड़ायेंगे, निन्दा करेंगे तो आपके दिमाग पर इतना प्रभाव (Load) पड़ेगा कि आप सह नहीं पायेंगे और या तो अवसाद (Depression) में चले जायेंगे या भाग जायेंगे अथवा नास्तिक हो जायेंगे, इसलिए कहा- **'मा विद्विषावहै'।** छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक, चतुर्दश खण्ड के प्रथम व द्वितीय मन्त्र में कहा कि जैसे कोई गान्धार देश के व्यक्ति की आँखों पर पट्टी बाँधकर किसी निर्जन स्थान में छोड़ दें और वह चिल्लाता फिरे कि अरे मुझे यहाँ लाकर किसी ने छोड़ दिया, मैं गान्धार का रहने वाला हूँ, कोई मेरी सहायता करो और तभी कोई व्यक्ति आकर उसकी आँखों की पट्टी खोल दे और वह कहे कि गान्धार इधर है तो वह गाँव-गाँव पूछता हुआ गान्धार पहुँच ही जाता है। ठीक इसी प्रकार जीवन में किसी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ आचार्य सद्गुरु को पाकर आँखों पर अज्ञान की पट्टी बँधा हुआ, भटकता हुआ यह पुरुष अपने सत्रूप को पाने के लिए चिल्लाता है और जब सद्गुरु उस पट्टी को खोलकर राह दिखा देता है तब चलते-चलते अपने गन्तव्य को पा ही जाता है।

गुरु एक विशाल वृक्ष की भाँति है और ईश्वर उस वृक्ष की जड़ है जो दिखती तो नहीं पर वृक्ष के फलने-फूलने का मूल कारण है। शिष्यगण अन्तेवासी, भक्त वो सब शाखाएं, पत्ते, फल और फूल हैं, जिनका अस्तित्व वृक्ष और जड़ से कदापि भिन्न नहीं होता। इसलिए सच्चा शिष्यत्व उस दिन प्राप्त हो पाता है जब हमारी अलग से कोई इच्छा नहीं रहती है, पत्तों की शाखाओं की अलग से क्या इच्छा होगी, जब अलग अस्तित्व ही नहीं है। हाँ, यह सच है कि पत्ते एक निश्चित समय पर बदलते रहते हैं, पुराने जाते रहते हैं, नये आते रहते हैं, पर वृक्ष वही रहता है। ऐसे ही वृक्ष हैं-गुरुनानक देव, महात्मा बुद्ध, भगवान् महावीर, महर्षि दयानन्द, विवेकानन्द, श्री अरविन्द और वे तमाम ऋषि परम्परा के ऋषिगण एवं गुरु परम्परा के गुरुजन। यद्यपि पत्ते अलग-अलग होते हैं, अपने-अपने स्थान पर रहते हुए हँसते हैं, खेलते हैं, किन्तु हैं उस विशाल अस्तित्व का एक भाग। हम सब उस विराट् ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस एक ही महान् शक्ति के एक छोटे से कण हैं, लेकिन उससे भिन्न नहीं हैं, उसकी इच्छा ही हमारी इच्छा है, और उस शाश्वत के ही प्रतिनिधि, मूर्त्तरूप होते हैं गुरु, इसलिए गुरु की इच्छा ही शिष्य की, अन्तेवासी की इच्छा है। जब कोई पत्ता अपने आपको वृक्ष से पृथक् (Disconnect) करता है तो पीला पड़ जाता है, मुरझाने लगता है, यही हाल हमारा भी है। जब हमारा अहङ्कार अपने को गुरु भिन्न कर लेता है तो तमाम तरह के कष्ट, पीड़ाएं, उदासीनताएं व डिप्रेशन हमें घेर लेते हैं। आज भी इस गौरवशाली गुरु परम्परा में अनेकों गुरुजन देश व दुनियाँ में इस मानवता के पथ प्रदर्शक बनकर उनका मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं और उसी गुरु परम्परा में हमारे गुरुदेव एक दैदीप्यमान सूर्य की भाँति हम सब शिष्यजनों को जीवनदान दे रहे हैं। आइये इस महान् सत्य की अनुभूति करते हुए हम गुरु के मन, बुद्धि, आत्मा, लक्ष्य व सेवा के साथ अपने मन, बुद्धि, आत्मा, लक्ष्य व सेवा को एकाकार करते हुए उस परम आनन्द व परमशान्ति का अनुभव करें। भगवान् करे वह गुरुपूर्णिमा अर्थात् शिष्यत्व का गुरुत्व के साथ शाश्वत मिलन होकर हम समस्त बन्धनों से मुक्त हो जायें।

हम सब उस विराट् ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस एक ही महान् शक्ति के एक छोटे से कण हैं, लेकिन उससे भिन्न नहीं हैं, उसकी इच्छा ही हमारी इच्छा है, और उस शाश्वत के ही प्रतिनिधि, मूर्त्तरूप होते हैं गुरु, इसलिए गुरु की इच्छा ही शिष्य की, अन्तेवासी की इच्छा होती है।

जब कोई पत्ता अपने आपको वृक्ष से पृथक् (Disconnect) करता है तो पीला पड़ जाता है, मुरझाने लगता है, यही हाल हमारा भी है। जब हमारा अहङ्कार अपने को गुरु भिन्न कर लेता है तो तमाम तरहे के कष्ट, पीड़ाएं, उदासीनताएं व अवसाद (Depression) हमें घेर लेते हैं।

डॉ. साध्वी देवप्रिया
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा- दर्शन विभाग
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरु की महिमा कोई न जाने

प्रतिवर्ष आषाढ़ माह की पूर्णिमा को हम गुरु पूर्णिमा के रूप में मनाते हैं। लेकिन कभी सदियों के बाद ऐसा संयोग बनता है कि असली शिष्य और किसी समर्थ गुरु का मिलन होता है, जिससे वे दो आत्माएँ ही नहीं अपितु यह समस्त धरा धन्य हो जाती है और तब सच्ची गुरु पूर्णिमा मनाई जाती है। यह गुरु-शिष्य का मिलन बड़ा अद्भुत है, बड़ा महान् है और सम्बन्धों की शृंखला में सर्वोच्च सम्बन्ध है क्योंकि इस सम्बन्ध में पवित्रता, ज्ञान, अहंकार शून्यता विवेक, निःस्वार्थता, सेवा व समर्पण की पराकाष्ठा होती है। आदिकाल से अद्य पर्यन्त ये घटनाएं घटित होती ही आयी हैं- गुरु वशिष्ठ व राम, घोर ऋषि व कृष्ण, श्रीकृष्ण व अर्जुन, समर्थ गुरु रामदास व छत्रपति शिवाजी, चाणक्य व चन्द्रगुप्त, रामकृष्ण परमहंस व विवेकानन्द, गुरु विरजानन्द व ऋषि दयानन्द आदि नाम इस पावनी परम्परा के गौरव हैं। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि पहले गुरु का अस्तित्व होता है या शिष्य का? यह ऐसी ही जिज्ञासा है कि पहले माँ का अस्तित्व है या बच्चे का? स्थूल दृष्टि से देखें तो झट से उत्तर आता है कि गुरु और माँ का अस्तित्व पहले है लेकिन गम्भीरता से विचार करें तो दोंनों का अस्तित्व साथ-साथ विकसित होता है इसीलिए वेदमन्त्र में कहा- **''सह वीर्यं करवावहै''** क्योंकि जब तक बच्चा गर्भ में ना आये तब तक कोई महिला माँ नहीं बनती है।

जैसे ही शिशु गर्भ में आता है वह माँ बनना शुरू हो जाती है और जैसे ही बच्चे का जन्म होता है, वह माँ बन जाती है अर्थात् मातृत्व प्रकट हो जाता है, माँ के स्तनों में दूध उतर आता है उसी प्रकार शिष्यत्व का जन्म होते ही गुरुत्व प्रकट हो जाता है। शिष्यत्व से विवेक, वैराग्य, आत्म निग्रह, निष्काम सेवा, तत्त्वचिन्तन, समर्पण और अध्यवसाय अर्थात् सत्य को पाने का दृढ़ निश्चय, उपरोक्त ये 10 गुण जब हममें आ जाते हैं तो शिष्यत्व अभिव्यक्त हो जाता है और तभी गुरुत्व भी प्रकट होता है उससे पहले नहीं। तभी गुरु हमारा रूपान्तरण करना शुरू कर देते हैं। किन्तु यह शिष्यत्व का जन्म होना बहुत बड़ी घटना है और इसकी समाप्ति भक्त बनने में होती है।

भक्त का अभिप्राय है- प्रतिरूप होना उसी के जैसा होना या वही हो जाना। गीता में आधी गीता तक अर्जुन में शिष्यत्व का जन्म नहीं हुआ यद्यपि द्वितीय अध्याय में उसने कहा कि **''शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्न''** परन्तु यह कहकर भी अर्जुन उलटा, कृष्ण को ही उपदेश देते रहे जैसे कि यह कृष्ण से ज्यादा समझदार है। हम भी शिष्य तो बनना चाहते हैं लेकिन अपनी समझदारी का अहंकार भी कुछ कम नहीं है। रूपान्तरण तो चाहते हैं किन्तु चाहते हैं अपने ही तरीके से, जो हमें अनुकूल पड़े, जो हमें प्रिय लगे। हमारा मन अपनी ही प्रकार की योजना बनाता रहता है और शिष्यत्व के जन्म की पहचान यह है कि हमारा मन चुप हो जाये, शान्त हो जाये तथा गुरु के हर फैसले पर उसे विश्वास होने लगे। इसी प्रकार गुरुत्व का जन्म अनन्त धैर्य के साथ होता है। अनन्त धैर्य होना इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह अनन्त जन्मों के संस्कारों को बदल कर इसे मनुष्य से देवता बना रहा है। इस परिवर्तन में समय, शक्ति की आवश्यकता तो होती ही है। यदि धैर्य नहीं होता तो गुरु कहेगा- इतने दिन हो गये इसे ज्ञान सुनाते-सुनाते कोई परिवर्तन नजर नहीं आ रहा, मैं किसी अच्छे शिष्य को पकड़कर लाऊँगा। इसी प्रकार शिष्य में भी धैर्य की परम आवश्यकता है यदि इसमें पेसैन्स (धैर्य) नहीं होगा तो, पेसेन्ट बन जायेगा क्योंकि स्वास्थ का सम्बन्ध केवल शारीरिक ही नहीं अपितु मानसिक, बौद्धिक व आत्मिक भी है। यदि धैर्य नहीं होगा तो जब लोग ताने मारेंगे, हंसी उड़ायेंगे, निन्दा करेंगे तो आपके दिमाग पर इतना प्रभाव (लोड) पड़ेगा कि आप सह नहीं पायेंगे और या तो डिप्रेशन में चले जायेंगे या भाग जायेंगे। अथवा नास्तिक हो जायेंगे इसलिए कहा- **''मा विद्विषावहै''**। छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठं प्रपाठक, चतुर्दश खण्ड के प्रथम व द्वितीय मन्त्र में कहा कि जैसे कोई गान्धार देश के व्यक्ति की आँखों पर पट्टी बाँधकर किसी निर्जन स्थान में छोड़ दें और वह चिल्लाता फिरे कि अरे मुझे यहाँ लाकर किसी ने छोड़ दिया, मैं गान्धार का रहने वाला हूँ, कोई मेरी सहायता करो और तभी कोई व्यक्ति आकर उसकी

आँखों की पट्टी खोल दे और वह कहे कि गान्धार इधर है तो वह गाँव-गाँव पूछता हुआ गान्धार पहुँच ही जाता है। ठीक इसी प्रकार जीवन में किसी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ आचार्य सद्गुरु को पाकर आँखों पर अज्ञान की पट्टी बँधा हुआ, भटकता हुआ यह पुरुष अपने सत्रूप को पाने के लिए चिल्लाता है और जब सद्गुरु उस पट्टी को खोलकर राह दिखा देता है तब चलते-चलते अपने गन्तव्य को पा ही जाता है।

मगर ऐसा गुरु कहाँ ढूँढे? कहाँ पायें? आप इसकी तनिक भी चिन्ता मत करना अपितु नचिकेता की भांति सच्ची लगन लगाकर, सच्ची अभीप्सा से भूख-प्यास आदि शारीरिक भोगों के प्रति आसक्ति का त्याग करके, उपवास करके धैर्य के साथ प्रतीक्षा करना, गुरु स्वयं मिलेंगे और सहज मिलेंगे। प्रश्न उठता है कि ऐसा गुरु मिल जाये तो पहचानेंगे कैसे? उत्तर है गुरु तीन काम साथ-साथ करता है। हमारे अन्दर दिव्यता का सृजन, दिव्य आधार और पूर्ण विध्वंस।

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवोमहेश्वरः,
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।'

इस श्लोक में महेश्वर अर्थात् विध्वंसक शब्द तीसरे नम्बर पर आया है पर वास्तव में नवनिर्माण के लिए पहला कार्य है- विध्वंस। जब तक मिट्टी के कच्चे झोपड़े को तोड़ेंगे नहीं तब पक्का सुन्दर महल बनेगा कैसे? और बनाने के पश्चात् उसका रख-रखाव करना बहुत जरूरी है इसी का नाम है विष्णु। इसलिए वेद में भी आचार्य का प्रथम रूप मृत्यु ही बताया है। सर्वप्रथम आचार्य हमारे दोषों को, दुराग्रहों को, दुर्बलताओं को तोड़ता है यहाँ से शिष्य गुरु के गर्भ में आ जाता है और जन्म होने के बाद द्विज और भक्त बन जाता है। भक्त हो जाना जीवन की पूर्णता है। भक्त से अभिप्राय है उसी के स्वरूप वाला हो जाना। इसलिए श्लोक में कहा **''गुरुर्साक्षात् परब्रह्म''** अर्थात् तब भक्त को गुरु में किसी इन्सान के नहीं अपितु भगवान् के ही दर्शन होने लगते हैं। यह पर्व पूर्णिमा को ही मनाया जाता है अर्थात् **''गुरुपूर्णिमा''** गुरु अमावस्या, गुरु प्रथमा अथवा गुरु एकादशी, कोई भी तिथी हो सकती थी, पूर्णिमा ही क्यों? क्योंकि रात्री के सम्पूर्ण तिमिर का नाश पूर्णिमा का चन्द्र ही कर पाता है। सूर्य और रात्री का मिलन तो सम्भव नहीं है, इसलिए चन्द्र ही रात्री तिमिर का नाश कर सकता है। सूर्य तो परम-पिता परमात्मा है और गुरु चन्द्रमा है, शिष्य रात्री के समान है। शिष्य का डायरेक्ट सम्बन्ध परमात्मा से नहीं होता बीच में गुरु जरूरी है। यद्यपि चन्द्रमा में भी प्रकाश तो सूर्य का ही है अपना निजी नहीं, पर रात्री के साथ मिलन चन्द्र का ही सम्भव है। इसी प्रकार गुरु में भी ज्ञान, सामर्थ्य, शक्तियाँ सब परमात्मा की ही हैं परन्तु परमात्मा का साक्षात प्रतिनिधि होता है गुरु, जो शिष्य को अपना ही जैसा बना देता है। अग्नि में पड़ा हुआ कोयला भी चमचमाने लगता है, यह अग्नि की महिमा है, यही गुरु की महिमा है। गुरु अपने शिष्य को अपने ही जैसा बना देता है और यदि शिष्य उससे भी आगे निकल जाये तो उसे परम प्रसन्नता होती है। अतः आइये इस गुरुपूर्णिमा के पावन पर्व पर हम शिष्य बनने की शुरूआत करें।

गुरुकुलीय शिक्षा का विराट् स्वरूप

गुरुकुलीय शिक्षा और सामान्य शिक्षा में एक मूलभूत अन्तर यह है कि गुरुकुल में शिक्षा के साथ-साथ ही दीक्षा भी होती है अर्थात् शिष्य-गुरु जैसा पढ़ते-पढ़ाते हैं, वैसा ही जीवन भी जीते हैं जबकि आजकल की शिक्षा में पहले डॉक्टर-इन्जिनियर को शिक्षा दी जाती है, बाद में उसका अभ्यास कराया जाता है। शायद इसीलिए गुरुकुल से जाते समय समावर्तन (सम्यक् आवर्तन) संस्कार कराते थे कि यहाँ गुरुकुल में यह ब्रह्मचारी इस शिक्षा-दीक्षा के अनुसार ही सम्यक वर्तता-आवृत्ति करता है, यह ज्ञान इसके स्वभाव का हिस्सा बन चुका है और अब यह एक दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य नेतृत्व तैयार हो चुका है। शिक्षा का उद्देश्य अपनी सम्पूर्ण दिव्यता को (Express)अभिव्यक्त करना होना चाहिये किसी को (Impress) प्रभावित करना नहीं।

प्राचीन भारत में शिक्षा मानवीय व्यक्तित्व के उच्चतम विकास के विशिष्ट उद्देश्य से ही संचालित थी। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी संभव हो सकती है जब व्यक्ति को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के स्तर तक निखारा जा सके। शिक्षा के इसी दूरगामी उद्देश्य को सम्मुख रखते हुए प्राचीन आचार्यों ने अपने छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि-

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्र आ ये धमानि दिव्यानि तस्थुः। [1]

आचार्य वेद को आधार या प्रमाण बनाकर बोलता था कि हे अमृतपुत्रों। जो दिव्य धाम हैं उनमें आप प्रतिष्ठित हो जाओ। दिव्य धाम से अभिप्राय है चेतना का उच्चतम स्तर। उपनिषदों में हम देखते हैं सत्यकाम जाबाल नामक छात्र जब अपने गुरु के पास विद्यार्जन के लिए आता है तो आचार्य उन्हें 100 गायें देकर जंगल में भेजते हैं और 1000 होने पर वापस आने का निर्देश देते हैं और कहते हैं कि तभी वापस आने पर ये उन्हें कुछ सिखा पायेंगे।

जब सत्यकाम लौटकर आते हैं तो गुरु उनसे पूछते हैं कि आपका भाल तो ब्रह्मतेज से चमक रहा है, ये ब्रह्मज्ञान आपको किसने दिया? सत्यकाम प्रत्युत्तर में कहते हैं गुरुदेव यह ज्ञान तो मुझे सूर्य ने दिया, दिशाओं ने दिया, हवाओं ने दिया, गायों ने दिया, शेष गुरुदेव आप मुझे अधीत करें। गुरुदेव कहते हैं तुम्हें किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, तुम परमज्ञान प्राप्त कर चुके हो। अतः प्राचीन काल में शिक्षा के केन्द्र नगरों से दूर प्रकृति की गोद में एकान्त-शान्त प्रदेशों में होते थे जहाँ वह सहज ही चारों तरफ से उस परमसत्ता से एकात्म होता हुआ दिव्यता की ओर अग्रसर होता था।

अपनी इसी विशिष्ट शिक्षा पद्धति के कारण ही भारत ने शताब्दियों तक न केवल विश्व का सांस्कृतिक मार्गदर्शन ही किया, अपितु

डॉ. आचार्या साध्वी देवप्रिया
कुलानुशासिका एवं संकायाध्यक्षा
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखंड, भारत

शास्त्रविद्या, कृषि, उद्योग, कला-कौशल, औषधिविज्ञान, गणित-नक्षत्र विद्या तथा विज्ञान-तकनीकी के सभी क्षेत्रों में भी अग्रणी रहा। प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य मात्र व्यक्तिगत आध्यात्मिक व भौतिक उन्नति ही नहीं था अपितु इसका लक्ष्य लोक भावना से पूरित राष्ट्र निर्माण व विश्वबंधुत्व से भी अभिप्रेरित था वस्तुतः प्राचीन भारत की सांस्कृतिक व भौतिक समृद्धि का मूल कारण यहाँ के लोक जीवन की समावेशी भावना ही थी जो कि उस काल की विशिष्ट शिक्षा पद्धति के द्वारा निरन्तर पोषित होती रही।

2. गुरुकुलों का स्थान

उपह्वरे गिरिणां संगमे च नदीनां, धियो विप्रा अजायत। [2]

मूल प्रकृति ही हमारी मूल संस्कृति है- (श्रद्धेय स्वामी रामदेव जी महाराज)

आज नई शिक्षा नीति में पर्यावरण को अनिवार्य विषय माना जा रहा है, उसका मूल गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति है। छात्र प्रकृति के साथ ही विकसित होता था और प्रकृति के साथ एकात्म होता हुआ जीवन यात्रा में आगे बढ़ता था। प्राचीनकाल में विद्या केन्द्रों की स्थिति वहाँ होती थी जहाँ कृषि व गोपालन के लिए पर्याप्त भूमि, फल, फूल, कन्द-मूल आदि खाने के लिए सघन उद्यान, यज्ञादि के लिए वनों की उपलब्धता तथा जलपूर्ति के लिए सरोवर या नदियों की उपस्थिति हो। यही कारण रहा कि प्रायः ग्रामों, नगरों व जनपदों से दूर, वनों या उपत्यकाओं पहाड़ों की तलहटियाँ या फिर नदियों के किनारे स्थित गुरु या आचार्य का निवास स्थान अथवा आश्रम ही सभी शिक्षार्थियों का शिक्षा स्थल हुआ करता था।

3. शिक्षा का प्रारम्भ

माता गर्भ से लेकर 5 वर्ष तक प्रथम गुरु है, 5 वर्ष के पश्चात् गुरु शिष्य परम्परा में विद्यादान देने वाला गुरु है।

हमारी संस्कृति में माता को प्रथम गुरु माना गया है जो गर्भ से लेकर शैशवकाल तक शिशु को हर प्रकार की शिक्षा देती है। मार्कण्डेय महापुराण में वर्णित राजा मोरध्वज की पत्नी मदालसा अपने पुत्रों में से कुछ पुत्रों को निवृत्ति मार्ग का बोध कराती है और वहीं छोटे पुत्र विक्रान्त को प्रवृत्ति मार्ग की शिक्षा देती हैं। इसी प्रकार महाभारत में भी माता सुभद्रा अभिमन्यु को, शकुन्तला माता भरत को, अंजना माता हनुमान को तथा छत्रपति शिवाजी को माता जीजाबाई आदि श्रेष्ठ संतानों के निर्माण के लिए माता की ममता, वात्सल्यता तथा श्रेष्ठ जनक के सच्चे संरक्षण व आत्मीय स्वजनों के प्रेम पूर्ण सानिध्य में सदाचार, परोपकार, सद्व्यवहार, शुभ-संस्कार, विनम्रता, वीरता, धीरता, गम्भीरता, कृतज्ञता, सेवा, सत्कार, समभाव, सहभाव आदि शुभ गुणों का आधान कराती थी। इसके साथ-साथ संतानों को अक्षर ज्ञान व लिपि ज्ञान का बोध कराके गुरुकुल शिक्षा के लिए प्रेरित करती थी। प्रायः संतानों की शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व उपनयन संस्कार की पावनी परम्परा रही है। जिसमें प्रायः सभी विद्वान् महर्षि मनु का मन्तव्य स्वीकार करते हुए छात्र की न्यूनतम आयु 05 से 11 वर्ष तक उचित मानते हैं।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पन्यमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।। [3]

वैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि जीवन के प्रारम्भिक 5 वर्ष की आयु के अनंतर ही बच्चों की मस्तिष्क ग्रन्थियाँ शिक्षा के लिए परिपक्व हो पाती है। मनुष्यों में विनयशीलता तथा नैतिक मूल्यों का आधान हो यही शिक्षा का मूल लक्ष्य है। उत्तमोत्तम पात्रता होने पर ही मनुष्य हर प्रकार के धन की प्राप्ति व धन से धर्म और धर्माचरण से शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। बहुत ही प्रसिद्ध श्लोक है-

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रात्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्।। [4]
विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि। [5]

गुरुकुलों के प्रति लोक में आदर भाव जाग्रत करने के उद्देश्य से राजा लोग भी स्वतः ही अपने गरिमामय राजवेष छत्र और मुकुट को उतारकर बिना अंगरक्षकों व परिचरों को साथ लिए, अतिशय विनीत भाव से आश्रम परिसर में, अपने वाहनों से उतर कर पैदल ही प्रवेश करने का प्रतिमान उपस्थित करते थे।

4. उपनयन व वेदारम्भ संस्कार

उपनयन का शाब्दिक अर्थ गुरु के समीपस्थ होना है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिइु उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः। [6]

पालन-पोषण, शिक्षा एवं रक्षा का संपूर्ण दायित्व एक माँ की ही भाँति गुरु या आचार्य अनन्त धैर्य के साथ निभाता है।

गुरुकुल में प्रवेश के उपरान्त विद्यार्थी लगभग पच्चीस वर्ष की आयु तक शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। सामान्यतः गुरुकुल में जो छात्र चौबीस वर्ष की आयु तक अध्ययन करते थे उन्हें वसु ब्रह्मचारी, जो छत्तीस वर्ष की आयु तक अध्ययन करते थे उन्हें रुद्र ब्रह्मचारी तथा जो अड़तालीस वर्ष की आयु तक अध्ययन करते थे उन्हें आदित्य ब्रह्मचारी कहा जाता था। इन विद्यार्थियों में से कुछ ऐसे भी होते थे जो विशेष शिक्षा के लिए अध्ययन की सामान्य अवधि के उपरान्त प्रतिष्ठित आचार्यों के गुरुकुलों में आगे के अध्ययन के लिए प्रवेश ले लेते थे।

5. प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य, आन्तरिक व बाह्य अनुशासन

प्राचीन आचार्यों ने आन्तरिक अनुशासन के इस महत्वपूर्ण सत्य को शिक्षा का प्रथम आधर बनायाः-

(i) **अन्तःकरण चतुष्टय-** अन्तःकरण की प्रकृति व उसके स्वरूप को समझे बिना ज्ञान की प्रक्रिया को गति प्रदान नहीं की जा सकती है। दर्शन शास्त्र के अनुसार अन्तःकरण के चार स्वरूप हैं- मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार। बाह्य कारणों के स्वरूप व सदुपयोग के ज्ञान से भी अधिक महत्वपूर्ण है अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) के स्वरूप एवं इसकी कार्यपद्धति का ज्ञान होना, क्योंकि बाह्यकरण भी अन्तःकरण के सहयोग से ही अपनी समस्त क्रियाएं सम्पन्न कर पाते हैं। जिस मन के मनन और उच्च विचार से उसे जीवन के उच्चतम आदर्शों को पाना है उस मन रूपी मशीनरी को यदि उसे संचालित (Operate) करना नहीं आता है तो सभी क्रियाएँ विफल हो जायेंगी। बुद्धि-जिस बुद्धि की सहायता से जीवन में समस्त बड़े-बड़े निर्णय करने हैं, इतने महत्वपूर्ण यन्त्र से गुरु, जीवन के प्रारम्भ में ही परिचय करा देता था क्योंकि जैसा व्यक्ति का विचार और निर्णय होता है वैसा ही उसका संसार और जीवन होता है चित्त- चित्त रूपी पेटिका/संग्रह (Store) में अनादिकाल से अर्जित संस्कारों का, वर्तमान के प्रबल यौगिक संस्कारों से किस प्रकार अभिभव या नाश किया जा सकता है यह भी बाल्यावस्था में ही आचार्य अपने शिष्य को सिखा देता था। अहंकार- अहंकार का अर्थ है व्यक्तिगत पहचान। गुरुकुल में आचार्य-

अहं ब्रह्मास्मि। [7]
'कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वाकमुपनयते काय त्वा परिददामीति'।। [8]

आदि उदात्त अहंकार, या सात्विक अहंकार से युक्त कर देता था। यह सात्विक अहंकार व्यष्टि और समष्टि का कल्याण करने वाला ही

होता था। इस प्रकार अन्तःकरण चतुष्ट्य को संयमित कर ही व्यक्ति सद्विचार, विवेक, सदाशयता, उदारता, करुणा के उदात्त गुणों को विकसित कर अपने को एक आदर्श मानव के रूप में रूपान्तरित कर सकता है। अतः आदर्श मानव बनने के संकल्प को फलीभूत करने के लिए व्यक्ति को गुरुकुलीय शिक्षा के माध्यम से स्वयमेव ही अन्तःकरण की कार्यविधि को समझने तथा उससे भली-भांति अवगत होने का प्रयत्न करना चाहिए।

(ii) **पंचकोशीय विद्या–** उपनिषदों में आत्मा का उद्भव, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, विकास एवं विध्वंस की गति को पंचकोष के माध्यम से समझाया गया है। ये सभी पंचकोष मानवीय चेतना को पाँच भागों में विभक्त करते हैं।

क) **अन्नमय कोश–** यात्रा बाह्य हो या आन्तरिक प्रारम्भ वही से होती है जहाँ व्यक्ति खड़ा है। गुरुकुल में आने वाला छात्र अभी शरीर के धरातल (अर्थात् अन्नमय कोष) पर खड़ा है अतः अग्रिम यात्रा भी यहीं से प्रारम्भ होती है। आजकल छोटे-छोटे बच्चों को इतने बड़े-बड़े रोग उत्पन्न हो रहे हैं वे कहीं न कहीं माता-पिता के गुरुकुलीय शिक्षा के अभाव को ही दर्शाते हैं। गुरुकुल में आने पर गुरु सर्वप्रथम शारीरिक उन्नति का उपदेश एवं दीक्षा देते थे जिसके साधन हैं- सात्विक आहार, व्यवस्थित दिनचर्या और व्यायाम इससे शिष्य का अन्नमय कोष पुष्ट होता था।

ख) **प्राणमय कोश–** सभी इन्द्रियों में ओज, तेज, स्फूर्ति, उत्साह, प्रसन्नता भर देने वाला यह प्राणमय कोष। इस कोष की शक्ति का साधन है प्राणायाम जिसका अनुष्ठान प्रातः-सायं गुरुकुल में कराया जाता है।

ग) **मनोमय कोश–** मनोमय कोष की तुष्टि होती है उदात्त विचारों से, सात्विक विचारों से, सकारात्मक विचारों से, एकाग्रता से और इन सबका साधन है- प्रत्याहार और धरणा। आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन तथा ओंकार, गायत्री आदि पवित्र मन्त्रों का जाप भी मनोमय कोष को तुष्ट व पुष्ट करता है। गुरुकुलों में शास्त्र स्मरण कराना आदि भी एकाग्रता को बढ़ाने के लिए दिव्य साधन हैं। यही कारण रहा होगा कि वाल्मीकि जी ने बचपन में ही लव-कुश को पूरी रामायण याद करा दी थी। 24000

घ) **विज्ञानमय कोश–** इस कोष के सबल होने से व्यक्ति में तृप्ति, सन्तोष, तुष्टि का भाव आता है। ऐसा व्यक्ति सतत सन्तुष्ट रहता हुआ सदैव आत्म-स्पर्धा में जीता है। इस कोष को विकसित करने का साधन है- ध्यान, जो गुरुकुल में स्वयं गुरु अपने आचरण से शिष्य को अभ्यास कराता है।

ङ) **आनन्दमय कोश–** यह मानवीय चेतना के उच्चतम विकास का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। चेतना के इसी स्तर पर साधक **'अहं ब्रह्मास्मि''। [9]** जैसे महावाक्यों की अनुभूति करता है। धारणा, ध्यान समाधि ही इसके दिव्य साधन हैं। आजकल के छात्रों के लिए तो ये सब बातें मायालोक जैसी प्रतीत होती है लेकिन गुरुकुलीय शिक्षा में गुरु, शिष्य की चेतना को अपने तप-त्याग और बलिदान के द्वारा देवों का भी दर्शनीय बनाता था इन पाँच अवदानों से परिचय कराते हुए गुरु, शिष्य की दिव्यमूर्ति अपने हाथों से (गढ़ता) निर्मित करता था। अर्थात् शरीर की पुष्टि, प्राण की शक्ति, मन की तुष्टि, बुद्धि की तृप्ति व आत्मा की मुक्ति यही आन्तरिक विकास है।

(iii) **अष्टांयोग–** अष्टांयोग के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय और ज्ञान की दीप्ति नित्य-निरन्तर बढ़ती जाती है और अन्ततः पूर्ण-विवेकी होकर व्यक्ति मानव से महामानव तथा नर से नारायण हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द जी ने इसी स्थिति को आत्मसात करने के लिए उपनिषदों के इस उद्घोष को दोहराया था-**'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'। [10]** आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के अभ्यास से शिष्य की बुद्धि इतनी तीव्र-सूक्ष्म और एकाग्र हो जाती थी कि वह कुछ ही वर्षों में एक नहीं अनेक विद्याओं का ज्ञाता हो जाता था। गुरुकुलीय शिक्षा में नियमों को व्रत और यमों को महाव्रत व सर्वथा, सर्वदा पालन करने योग्य बताया है- **व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्, दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते। [11]** संपूर्ण ज्ञान की देवी सरस्वती का कमल के फूल पर या हंस पर बैठना इस बात को दर्शाता है कि विद्या केवल पवित्र अन्तःकरण में ही ठहरती है। कमल सदा कीचड़ से ऊपर उठकर रहता है और हंस नीर-क्षीर विवेकी होता है। महर्षि दयानन्द ने सभी विद्याएं मात्र तीन वर्ष में पूरी कर डाली थी और वर्तमान में मेरे गुरुदेव परम पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज इसके साक्षात् उदाहरण हैं।

(iv) **संस्कार सिद्धान्त–** संस्कारों के आधार पर दी गई शिक्षा के द्वारा ही छात्रों के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक स्तर को निखारा जा सकता है, यही कारण रहा कि गुरुकुलीय शिक्षा में संस्कार प्रक्रिया की प्रयोगात्मक विधि के साथ सोलह संस्कारों के ज्ञान को भी अतिशय वरीयता दी जाती रही। संस्कारों की महिमा इतनी महान् है कि इस विधा से व्यक्ति का आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है। माँ की अनन्त वत्सलता में पल रहा बालक एक-दम गुरुकुल के इतने कठोर जीवन को कैसे अपना पायेगा यह प्रश्न सहज ही किसी के भी मन में आ सकता है। परन्तु इसका उत्तर सुनकर आपकी भी आत्मा तृप्त होने लगेगी-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिड्ड उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः। [12]

अर्थात् आचार्य भी इस बालक को माँ की ही भाँति अपने गर्भ में धारण करता है। संसार के समस्त दुःख, कष्टों व दूषित वातावरण का जहाँ स्पर्श भी न हो ऐसे अपने दिव्य ज्ञान के कवच में सुरक्षित रखता है। इसीलिए गुरुकुल में शिष्य को अन्तेवासी कहकर सम्बोधित

किया जाता है अर्थात् जैसे माँ के अन्तर में बालक निवास करता था वैसे ही यहाँ गुरु के अन्तर में निवास करता है और इस गर्भ से जिस दिन इसका जन्म होता है उस दिन देवता भी इसका दर्शन करने आते हैं उस दिन यह द्विज कहलाता है, अर्थात् दोबारा जन्मा हुआ। राम, कृष्ण, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और वर्तमान में मेरे गुरुदेव ऐसे ही द्विज हैं। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की इतनी उदात्त उपमा भारत के सिवा किसी अन्य देश में मिलना अत्यन्त दुर्लभ है गुरुकुल में नवागन्तुक शिष्य के लिए गुरु के आश्वासन की दिव्यता देखिये-

मम व्रते ते हृदयं दधमि मम चित्तं अनुचित्त ते अस्तु।
मम वाचं एकमना जुषस्व, बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।। [13]

अर्थात् तेरे हृदय को मैं अपने हृदय मे लेता हूँ, तेरे चित्त को अपने चित्त में अर्थात् दो आत्माएं मिलकर आज एकमना हो रही हैं। गुरु, शिष्य के दिल-दिमाग के उत्कृष्ट निर्माण की जिम्मेदारी अपने हाथ में ले रहे हैं और यह वैदिक उद्घोषणा वह भरी सभा में सबके समक्ष कर रहे हैं। शिक्षा के इससे ऊँचे उद्देश्य की क्या कोई कल्पना भी कर सकता है? जिस प्रकार यहाँ गुरु किसी के दिव्य व्यक्तित्व निर्माण की इतनी बड़ी जिम्मेदारी ले रहा है, उसी प्रकार यज्ञोपवीत धारण करवाकर उसके तीन धागों के माध्यम से शिष्य को भी ऋषिगण, पितृगण व देवगण से परिचय करवाकर, मेखला बाँधकर अर्थात् कमर कस कर उसे भी इसी परम्परा के निर्वहन के लिए तैयार किया जा रहा है। यह है 16 संस्कारों की पावनी परम्परा जो केवल गुरुकुल में सिखायी जाती है।

बाह्य अनुशासन- कठोर अनुशासन का पालन तथा पवित्र आचरण को बनाये रखते हुए गुरु या आचार्य की सेवा करना व उनके प्रति ऐकांतिक श्रद्धा भाव रखना, पृथ्वी पर शयन करना, ब्रह्ममुहूर्त में उठना सूर्योदय पूर्व संध्या वंदन व प्राणायाम करना, आश्रम का रख-रखाव करना, भोजन प्रबन्ध करना, साधारण वेशभूषा धरण करना, यज्ञादि करना तथा समान पठन-पाठन की चर्या सभी के लिए अनिवार्य हुआ करती थी। गुरुकुल के छात्रों को भिक्षावृत्ति की शिक्षा भी दी जाती थी ताकि भावनात्मक रूप से समाज के साथ जुड़े रहें। गुरुकुलों की शिक्षा निःशुल्क हुआ करती थी। इस प्रकार प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में सार्वभौमिक सत्ता का दिग्दर्शन करते हुए सार्वभौमिक विश्व बंधुत्व की भावना के साथ देश-काल की सीमा से परे इस व्यावहारिक शिक्षा से शिक्षार्थियों का आभ्यान्तरिक ज्ञान का आचरण निखर उठता था अर्थात् एक दिव्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति गुरुकुलों में होती थी। गुरुकुलों में तैयार होने वाली ये दिव्य प्रतिभाएं संसार के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी-अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार दिव्य नेतृत्व प्रदान करती थी। गुरुकुल के महान् गुरुओं की इस महति परम्परा के कारण यह भारत देश ही विश्व में गुरु कहलाता था। पूरे विश्व के दिव्य निर्माण की जिम्मेदारी भारत पर ही थी, आज भी है और सदा रहेगी। इसी विराट् जिम्मेदारी का निर्वहन आज मेरे गुरुदेव व श्रद्धेय स्वामी रामदेव जी महाराज हंस-हंसकर प्राणार्पण से कर रहे हैं।

6. विद्याओं के प्रकार -

गुरुकुलों में सभी प्रकार की विद्याओं का प्रशिक्षण दिया जाता था। जैसे कि- आन्वीक्षिकी, वेदत्रायी, वार्ता तथा दण्डनीति ये चार विद्याएँ लोक-व्यवहार को स्थिर करने वाली हैं

इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते।
यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या।
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणांर्विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता।। [14]

इसी के साथ अंगिरस (गीत, नृत्य तथा ललित कला), सर्पविद्या (विष विज्ञान), देवजनविद्या (मानव जीवन पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का अध्ययन), मायाविद्या (अनार्यों की गतिविधियों तथा उनके प्रतिरोध के उपाय), राशिविद्या (गणित ज्ञान), देवविद्या (प्राकृतिक घटनाओं का आकलन व उससे बचने के उपाय), निधिविद्या (धन संबंधी), एकायन (नीतिशास्त्र), ब्रह्मविद्या (आध्यात्मिकता), भूतविद्या (प्राणिशास्त्र), क्षत्रविद्या (युद्धकौशल), नक्षत्रविद्या (पिण्डीय संरचना व विकरण) व वाकोवाक्य आदि सभी विद्याओं की सम्पूर्ण शिक्षा दी जाती रही।

इनके अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, चिकित्साशास्त्र, कृषि विज्ञान तथा पशुपालन एवं पशु चिकित्सा विषयक शिक्षा भी दी जाती रही। इसी प्रकार प्रकार खगोल विज्ञान के द्वारा नक्षत्रों व पिण्डों का ज्ञान तथा विज्ञान व तकनीकी के अन्तर्गत विभिन्न विषयों की प्रयोगात्मक शिक्षा दी जाती थी।

इन्हीं विषयों के आधार पर गुरुकुलों में कुछ प्रमुख विभाग स्थापित किये गए जो निम्न प्रकार से रहे-

1. **अग्नि स्थान** (यज्ञादि कर्मकाण्डों के लिए)
2. **ब्रह्म स्थान** (आत्मविद्या के लिए)
3. **विष्णु स्थान** (सृष्टिरचना विज्ञान)
4. **महेन्द्र स्थान** (युद्धकौशल व सैनिक शिक्षा)
5. **विवस्वत् स्थान** (ज्योतिष/नक्षत्र विद्या)
6. **सोम स्थान** (उद्भिज-विज्ञान)
7. **गरुड़ स्थान** (यातायात)
8. **कार्तिकेय स्थान** (व्यूह-रचना व आयुध-संधान)
9. **विश्वकर्मा स्थान** (शिल्प व स्थापत्य कला)
10. **इंद्र स्थान** (राजनीति/अर्थनीति शिक्षा)
11. **धन्वन्तरि-स्थान** (आयुष व भैषज विज्ञान)
12. **अंगिरस स्थान** (गीत, संगीत व ललित कला) आदि-आदि।

आधुनिक विश्वविद्यालयों में विभागों की संरचनाओं को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। **-क्रमशः**

गतांक से क्रमशः

गुरुकुलीय शिक्षा का विराट् स्वरूप

डॉ. आचार्या साध्वी देवप्रिया
कुलानुशासिका एवं संकायाध्यक्षा
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखंड, भारत

चौंसठ कलाएँ–

शुक्राचार्य के नीतिसार नामक ग्रंथ के चौथे अध्याय के तीसरे प्रकरण में 64 कलाओं का वर्णन मिलता है। उनके अनुसार कलाएँ अनन्त हैं उन सब के नाम नहीं गिनाये जा सकते परन्तु उनमें 64 कलाएँ मुख्य हैं। कला का लक्षण बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिसको एक मूक (गूँगा) व्यक्ति भी, जो वर्णोच्चारण भी नहीं कर सकता, वह भी सीख सके, वह 'कला' है।

श्रीवसवराजेंद्र विरचित और जयमंगल तथा शुक्रनीतिसार के अनुसार 64 कलाएँ निम्न प्रकार से हैं-

1. हाव-भाव आदि के साथ गति को नृत्य कहा जाता है। 2. अनेक प्रकार के वाद्यों का निर्माण करने और उनके बजाने का ज्ञान। 3. स्त्री और पुरुषों को वस्त्र एवं अलंकरण सुचारु रूप से पहनाना। 4. अनेक प्रकार के रूपों का आविर्भाव करने का ज्ञान। 5. शैया और आस्तरण (बिछौना) सुंदर रीति से बिछाना और पुष्पों को अनेक प्रकार से गूँथना। 6.द्यूत (जूआ) आदि अनेक क्रीड़ाओं से लोगों का मनोरंजन करना। 7. अनेक प्रकार के आसनों द्वारा सुरतक्रीड़ा का ज्ञान। 8. विविध प्रकार के मकरन्दों (पुष्प रस) से आसव, मद्य आदि की कृति। 9. शल्य (पादादि अंग में चुभे काँटे) की पीड़ा को अल्प कर देना या शल्य क्रिया से अंगों को निकाल देना, शिरा (नाड़ी) और फोड़े आदि की चीर-फाड़ करना। 10. हींग आदि रस (मसाले) से युक्त अनेक प्रकार के अन्नों को पकाना। 11. वृक्ष, गुल्म, लता आदि को लगाने, उनसे विविध प्रकार के फल, पुष्पों को उत्पन्न करने एवं उन वृक्षादि का अनेक उपद्रवों से संरक्षण करने की कृति। 12. पत्थर, सोने-चाँदी आदि धातुओं को खोदना,

उन धातुओं की भस्म बनाना। 13. सभी प्रकार के इक्षु (ईख) से बनाये जा सकने वाले पदार्थ-जैसे रावा, गुड़, खाँड, चीनी, मिश्री, कन्द आदि बनाने का ज्ञान। 14. सुवर्ण आदि अनेक धातु और अनेक औषधियों को परस्पर मिश्रित करने का ज्ञान। 15. मिश्रित धातुओं को उस मिश्रण से अलग-अलग कर देना। 16. धातु आदि के मिश्रण का अपूर्व विज्ञान। 17. लवण (नमक) आदि को समुद्र या मिट्टी आदि पदार्थों से निकालने का विज्ञान। 18. पैर आदि अंगों के विशिष्ट संचालनपूर्वक (पैंतरा बदलते हुए) शस्त्रों का लक्ष्य स्थिर करना और उनका चलना। 19. शरीर की सन्धियों (जोड़ों) पर आघात करते हुए या भिन्न-भिन्न अंगों को खींचते हुए दो मल्लों (पहलवानों) का युद्ध (कुश्ती)। 20. कृत और प्रतिकृत आदि अनेक तरह के अति भयंकर बाहु (मुष्टि) प्रहारों से अकस्मात् शत्रु पर झपटकर उसको पकड़कर रगड़ देने आदि प्रकारों से जो युद्ध किया जाता है, उसे 'निपीड़न' कहते हैं और शत्रु द्वारा किये गये ऐसे 'निपीड़न' से अपने को बचा लेने का नाम 'प्रतिक्रिया'। 21. अभिलक्षित देश (निशाने) पर विविध यंत्रों से अस्त्रों को फेंकना और किसी (बिगुल, तुरही आदि) वाद्य के संकेत से व्यूहरचना (किसी खास तरीके से सैन्य को खड़ा करने) की क्रिया करना। 22. हाथी, घोड़े और रथों की विशिष्ट गतियों से युद्ध का आयोजन करना। 23. विविध प्रकार के आसन (बैठने का प्रकार) एवं मुद्राओं (दोनों हाथों की अँगुलियों से बनने वाली अंकुश, पद्म, धेनु आदि की आकृतियों) से देवताओं को प्रसन्न करना। 24. सारथ्य-रथ हाँकने का काम (कोचवानी) एवं हाथी, घोड़ों को अनेक तरह की गतियों (चालों) की शिक्षा देना। 25. मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और पीतल आदि धातुओं से बर्तनों का बनाना। 26. चित्रों का आलेखन। 27. तालाब, बावड़ी, कूप, प्रासाद (महल और देवमन्दिर) आदि बनाना और भूमि (ऊँची-नीची) का सम (बराबर) करना। 28. घटी (घड़ी) आदि यंत्रों के माध्यम से समय ज्ञात करना। 29. अनेक वाद्यों का निर्माण करना। 30. कतिपय रंगों के अल्प, अधिक या सम संयोग (मिलावट) से बने विभिन्न रंगों से वस्त्र आदि वस्तुओं का रँगना। 31. जल, वायु और अग्नि के संयोग से उत्पन्न वाष्प (भाप) के निरोध (रोकने) से अनेक क्रियाओं का सम्पादन करना। 32. नौका, रथ आदि जल-स्थल के आवागमन के साधनों का निर्माण करना। 33. सूत्र, सन आदि तन्तुओं से रस्सी का बनाना। 34. अनेक तन्तुओं से पटबन्ध (वस्त्र) की रचना करना। 35. रत्नों की पहचान और उनमें वेध (छिद्र) करने का क्रिया ज्ञान। 36. सुवर्ण, रजत आदि के याथात्म्य (असलीपन) का जानना। 37. नकली सोने-चाँदी और हीरे-मोती आदि रत्नों को निर्माण करने का विज्ञान। 38. सोने-चाँदी के आभूषण बनाना एवं लेप आदि (मीनाकारी) करना। 39. चमड़े को मुलायम करना और उससे आवश्यक उपयोगी सामान तैयार करना। 40. पशुओं के शरीर पर से चमड़ा निकालकर अलग करना। 41. गौ, भैंस आदि को दुहने से लेकर दही जमाना, मथना, मक्खन निकालना तथा उससे घी बनाने तक की सब क्रियाओं का जानना। 42. कुर्ता आदि कपड़ों को सीना। 43. जल में हाथ, पैर आदि अंगों की सहायता से विविध प्रकार से तैरना। 44. घर के बर्तनों को माँजने का ज्ञान। 45. वस्त्रों का संमार्जन (अच्छी तरह धोकर) साफ करना। 46. क्षौर कर्म (हजामत बनाना)। 47. तिल, तीसी, रेंड़ी आदि तिलहन पदार्थ और मांसों में से तेल निकालने की कृति। 48. हल चलाना जानना। 49. पेड़ों पर चढ़ना जानना। 50. मनोनुकूल (दूसरों की इच्छा के अनुसार उसकी) सेवा करने का ज्ञान। 51. बाँस, ताड़, खजूर, सन आदि से पात्र (टोकरी, झाँप आदि) बनाना। 52. काँच के बर्तन आदि सामान बनाना। 53. जल से संसेचन (अच्छी तरह खेतों को सींचना)। 54. संहरण (अधिक जल वाली या दलदल वाली भूमियों से जल को बाहर निकाल डालना अथवा दूर से जल को आवश्यक स्थान पर ले जाना)। 55. लोहे के अस्त्र-शस्त्र बनाने का ज्ञान। 56. हाथी, घोड़े, बैल और ऊँटों की पीठ-सवारी के उपयुक्त प्ल्याण (जीन, काठी) बनाना। 57. शिशुओं का संरक्षण (पालन)। 58. धरण (पोषण) करना। 59. बच्चों के खेलने के लिये विभिन्न प्रकार के खिलौने बनाना। 60. अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार ताड़ने (दण्ड देने) का ज्ञान। 61. भिन्न-भिन्न देशों की लिपि को सुन्दरता से लिखना। 62. पान की रक्षा करना-ऐसा उपाय करना कि जिससे पान बहुत दिनों तक न सूखने पाये, न गले-सड़े। 63. आदान, किसी काम को करने में आशुकारित्व (जल्दी-फुर्ती से करना) 'आदान' कहा जाता है। 64. प्रतिदान, और उस काम को चिरकाल (बहुत समय) तक करते रहना 'प्रतिदान' है।

वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड के 43वें सर्ग में भरद्वाज जी के आश्रम से चित्रकूट की तरफ जाते समय रास्ते में यमुना में जल की अधिकता के कारण उसे पार करना अति कठिन था तब दोनों भाइयों ने वन से कुछ लकड़ियां एकत्रित करके एक बेड़ा बनाकर बड़ी कुशलता से यमुना को पार किया, यह गुरुकुलीय शिल्प विद्या के विज्ञान का प्रखर प्रमाण है।

चिन्तामापेदिरे सर्वे नदीजलतितीर्षवः।
तौ काष्ठसङ्घाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम्।। [15]

तथा इसी प्रकार चित्रकूट पहुँचकर राम-लक्ष्मण के द्वारा सुन्दर पर्णशाला निर्मित्त करना, यह दर्शाता है कि राजकुमार होते हुए भी उन्होंने गुरुकुल में भवन-निर्माण विद्या की भी शिक्षा प्राप्त की थी-

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान्।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिन्दमः।। [16] (वा०रा० 2.56.20)

प्राचीनकाल में शिक्षा का पाठ्यक्रम इतना व्यापक था कि इसमें प्रायः सभी विषयों का समावेश हो जाता था। इसके साथ ही शिक्षकों की सर्वग्राही प्रज्ञा का भी सहज आँकलन हो जाता है जब वे विश्व के

अन्य भागों से आए छात्रों को प्रचलित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त उनके रीति-रिवाजों के अनुरूप ही शिक्षित किया करते थे।
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः। [17]
आजकल कुछ संस्थान तो ऐसे है जहाँ हर वर्ष सैकड़ों विद्यार्थी इसलिए आत्महत्या कर लेते हैं कि कॉम्पीटिशन में उनका रैंक ऊपर नहीं आया उन विद्यार्थियों को यह अवगत नहीं कराया जाता कि इसके अतिरिक्त भी विभिन्न दिशाओं में उड़ान भरने के लिए उसके समक्ष यह खुला आसमान है।

7. नारी शिक्षा

प्राचीन काल में शिक्षा के संबंध में स्त्री और पुरुष के नाम पर सामान्यतः कोई भेद नहीं किया जाता था, परन्तु यह अवश्य था कि लड़कों व लड़कियों के गुरुकुल अलग-अलग हुआ करते थे। वैदिक साहित्य के वर्णन के अनुसार उच्चतम शिक्षा में पुरुष ऋषि, महर्षि, राजर्षि, व ब्रह्मऋषि तथा स्त्रियाँ उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर ब्रह्मावादिनी तथा ऋषिका की संज्ञा ग्रहण करती थीं। वैदिक साहित्य के जगत् में ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गी का नाम अत्यंत प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम वचक्रु था, उनकी पुत्री होने के कारण इनका नाम 'वाचक्नवी' पड़ गया। गर्ग गोत्र में उत्पन्न होने के कारण लोग इन्हें गार्गी भी कहते थे। बृहदारण्यकोपनिषद् में इनके शास्त्रार्थ का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। ऋषि दीर्घतमा की माता 'ममता', 'विश्ववारा', 'अपाला', 'घोषा' ये सब ऋषिकाएं हैं। 'सूर्या', 'रोमशा', 'शाश्वती' आदि विदुषियाँ विभिन्न वैदिक ऋचाओं की द्रष्टा ऋषिका होने का गौरव प्राप्त कर चुकी हैं।
बृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेयी की गूढ़ आध्यात्मिक विषयों में अपने पति से जिज्ञासा और याज्ञवल्क्य द्वारा इनके शंका-समाधन का विषद् वर्णन मिलता है।
इनके अतिरिक्त रोमशा, लोपामुद्रा, जुहू, वागांभृणी, कदु, पौलमी, जरिता, श्रद्धा, सर्पराज्ञी, अदिति, आत्रेयी, उर्वशी, यमी, इंद्राणी, सावित्री, देवजामी, नोध, अकृष्टभाषा, सिकतानिबावरी, गोपायनी आदि विदुषियों का भी संदर्भ वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। महर्षि शौनक ने अपने ग्रंथ बृहत्देवता (2/84-86)में सत्ताइस ऋषिकाओं के नामों का उल्लेख किया है। **(घोषा गोध विश्ववारा अपालोपनिषत्। ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः।। इंद्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी। लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शाश्वती।। श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक्श्रद्धा मेध च दक्षिणा। सूर्या च सावित्री च ब्रह्मवादिन्य ईरिताः।।)। [18]**
पाणिनी ने ऐसे छात्रावासों का उल्लेख किया है जिनमें छात्राएँ रहती थी। **छात्र्यादयः शालायाम्। [19]** (पाणिनी-6.2.86)। स्त्रियों के महत्व को रेखांकित करते हुए **स्कन्दपुराण** के **कौमारिका खण्ड** (23/47) में यह स्पष्ट किया गया है कि एक बेटी दस पुत्रों के बराबर होती है। जो भी अच्छे परिणाम एक व्यक्ति को दस पुत्रों के पालन करने से प्राप्त हो सकते हैं, वही सभी परिणाम अकेली बेटी को जन्म देने से उसे प्राप्त हो जाते हैं। **(दशपुत्रसमा कन्या दशपुत्रान्प्रवर्धयन्, यत्फलं लभते मर्त्यस्तल्लभ्यं कन्ययैकया)। [20]** उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब आचार्य शङ्कर ने माहिष्मती नगरी में सिर पर कलश रखे पनखट की तरफ जाने वाली पानिहारिनों से मूर्धन्य मीमांसक पण्डित मण्डन मिश्र का पता पूछा तो उन ग्राम बालाओं ने परिहास में शुद्ध संस्कृत श्लोकों में यह बताया कि जिस द्वार पर पिंजड़ों में बैठी मैनाएँ आपस में जगत नित्य है, या अनित्य? अथवा वेद स्वतः प्रमाण है, या परतः? इस विषय पर चर्चा करती हुई दिखाई दें, वही पण्डित जी का घर है **(जगद्ध्रुवं स्यात् जगद्ध्रुवं स्यात्, क्रीरार्घैना यत्र गिरो गिरन्ति। द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा, जानीहि तन्मण्डन-पंडितौकः।। स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं, क्रीरार्घैना यत्रा गिरो गिरन्ति। द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा, जानीहि तन्मण्डनपंडितौकः)।। [21]** इसी के साथ मण्डन मिश्र जी की पत्नी शारदा देवी भी कितनी बड़ी विदुषी थी इसका प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि उस युग के प्रज्ञापुरुष आदि गुरु शंकराचार्य जी ने उन्हें अपने शास्त्रार्थ की निर्णायिका के रूप में सुशोभित किया। स्त्री शिक्षा पर चर्चा करते समय राजा शारदानन्द की पुत्री व महाकवि कालिदास की धर्मपत्नी विद्योत्तमा का उल्लेख करना समीचीन होगा, जिसने अनेक समकालीन विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त कर अपनी अपूर्व मेध का परिचय कराया था।
'पृथ्वीराज रासौ' के दृष्टान्त अनुसार विदुषी राजकुमारी संयोगिता ने 'मदना' आचार्या द्वारा संचालित कन्या गुरुकुल में लगभग पाँच सौ सहपाठिनों सहित शिक्षा ग्रहण की थी। यही नहीं बल्कि दक्षिण भारत के मध्यकालीन मंदिरों में निर्मित पत्र आदि लिखते हुए महिलाओं की मूर्तियाँ वस्तुतः प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा का पुरातात्विक प्रमाण ही प्रस्तुत करती हुई दिखती हैं:-
विलियम वार्ड की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक **'दि हिन्दूज'** के चतुर्थ खण्ड (हिस्ट्री लिट्रेचर एण्ड माइथोलाजी), जिसका प्रकाशन सन् 1811 में हुआ था, में यह उल्लिखित है कि बंगाल के नशीपुर के ब्राह्मण जशोमत राय की धर्मपत्नी हती विद्यालंकार (मूल नाम-रूपपंजरी), जो कि उच्च शिक्षा सम्पन्न थी, ने सन् 1805 में नारियों की उच्च शिक्षा के लिए बनारस (भदैनी) में एक विद्यालय चतुष्पाठी खोला था, वहीं सन् 1835 में अंग्रेजी शिक्षा नियम के लागू होने के पश्चात् सावित्री बाई फूले ने अपने पति ज्योति राव (बा) फूले व सहपाठिन सगुनबाई के सहयोग से सन् 1848 में पुणे के भिडवेडा में महिलाओं के लिए एक विद्यालय की स्थापना की थी। इस विद्यालय की स्थापना से पूर्व सावित्री बाई फूले ने अहमदनगर व पुणे के मिशनरी संस्थानों से शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त किया था।

-क्रमशः

गतांक से क्रमशः

गुरुकुलीय शिक्षा का विराट् स्वरूप

साध्वी देवप्रिया | कुलानुशासिका एवं संकायाध्यक्षा
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखंड, भारत

8. सभी वर्णों के लिए शिक्षा

प्रायः यह संदेह प्रकट किया जाता है कि प्राचीन भारत में केवल ब्राह्मणों को ही शिक्षा प्राप्त करने का, विशेष रूप से वेद अध्ययन का अधिकार था। जबकि इसके विपरीत वाजसनेयी संहिता में स्पष्ट रूप से वैदिक शिक्षा के अधिकारी चारो वर्णों को माना गया है। **यथेमां वाचङ्कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। [22]** यही नहीं बल्कि इसके प्रमाण के रूप में ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महिदास व उपनिषद् के ऋषि रैक्व का उल्लेख किया जा सकता है। वेदव्यास जी की माता भी मत्स्य जाति के मुखिया की पुत्री रही थी। संस्कारगणपति में तो स्पष्ट रूप से शूद्रों के लिए उपनयन का विधान भी दिया गया है। सामान्यतया यह भी प्रचारित किया जाता है कि शूद्रों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं था, किंतु इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण में शूद्र को यज्ञकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत करने का मात्र दृष्टांत ही नहीं मिलता है, अपितु उन्हें कैसे संबोधन करना चाहिए इसके यथावत शब्द का भी वर्णन किया गया है। मध्यकाल में चिकित्सा शास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् जीवक सालावती नामक दासी का पुत्र था।

इस प्रकार जो सर्व कल्याणकारी उदार शिक्षा व्यवस्था के उपरान्त भी छात्रों की अभिरुचियाँ अपने वर्णों, स्वभावों, संस्कारों तथा परम्परागत व वंशानुगत विषयों पर दृढ़ होती थी। इसलिए आचार्य विद्यार्थी की प्रवृत्ति, रुचि सामर्थ्य व तेजस्विता का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए ही उनके पाठ्यविषयों का सम्यक् निर्धारण किया करते थे। कदाचित् इसका आशय यह कभी नहीं होता था कि उस विद्यार्थी का ज्ञान किसी भी प्रकार से अपरिपक्व व उपेक्षित रह जाए। राजा भोज के राज्य की यह घटना अत्यन्त प्रसिद्ध है। एक बार की बात है कश्मीर देश से आए कोविंद नामक विद्वान् जो राजा भोज के राज्य में ठहरना चाहते थे। परन्तु उनके ठहरने का कोई स्थान नहीं मिला। उन्होंने राजा से याचना करते हुए कहा कि मैं बहुत ही विद्वान् हूँ। आप मुझे ठहरने का स्थान दीजिए। राजा मुस्कुराये और सैनिकों को आदेश दिया कि मेरे राज्य में जो मूर्ख प्रतीत हो उसको ढूँढकर मेरे समक्ष उपस्थित करो। जिससे उसका आवास खाली कराकर कविवर कोविंद को दिया जा सके। सैनिकों ने खूब खोजबीन की परन्तु कोई मूर्ख नहीं मिला अन्त में एक जुलाहे को देखा और यह विचार करके कि यह मूर्ख ही होगा। उसे पकड़कर राजा के समक्ष प्रस्तुत किया, राजा ने उससे कहा कि आप नगर छोड़कर चले जाएं क्योंकि आपके घर में श्रेष्ठ कविवर कोविंद को आवास देना है। इस पर वह तंतुवाय (जुलाहा) अपनी मेध से तत्क्षण एक श्लोक राजा के समक्ष प्रस्तुत किया-

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि। यत्नात्करोमि यदि चेत् चारुतरं करोमि। भूपाल-मौलि-मणि-मण्डित-पादपीठ हे साहसांक! कवयामि वयामि यामि।। [23]

अर्थात् हे राजन्! मैं काव्य करता हूँ, पर बहुत सुंदर ढंग से नहीं करता हूँ, किन्तु यदि प्रयत्नपूर्वक करता हूँ तो अच्छी प्रकार करता हूँ। आपके चरणों में जब अधीनस्थ राजागण सिर झुकाते हैं तो उनकी मणियों की चमक से आपकी पादुकापीठ जगमगा उठती है। हे राजन्! मैं तो काम करते कविता भी कर लेता हूँ। अब आप ही बताएँ कि मैं कविता करूं या कपड़ा बुनूं या फिर राज्य से चला जाऊँ। तंतुवाय का तर्कपूर्ण उत्तर सुनकर राजा भोज को अतिप्रसन्नता हुई।

राजा भोज से सम्बन्धित एक घटना लोक प्रचलित है जिसमें राजा भोज वन में भ्रमण कर रहे थे। वहीं एक लकड़हारा सिर पर लकड़ियों का बोझ लेकर नगर की ओर जा रहा था। लकड़ियों के भार से उसका शरीर पसीने से लथ-पथ हो गया था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि बोझ बहुत भारी है। जिसके कारण वह लकड़हारा पीड़ित हो रहा है। राजा को उस पर दया आयी और उन्होंने उससे पूछा- किं **ते भारं बाधति?** राजा के इस अशु (वाक्य सुनकर अपना कष्ट प्रकट करते हुए कहा- **भारं न बाधते राजन् बाधति तु बाधते। [24]** हे राजन! यह बोझ मुझे इतना कष्ट नहीं दे रहा जितना आपके द्वारा बाधते पद के स्थान पर बाधति अशुद्ध पद का प्रयोग पीड़ित कर रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है संस्कृत साहित्य, व्याकरण आदि का ज्ञान सामान्य लोगों को भी होता था जिसका ज्ञान उसे राजा के सामने भी निर्भीकता के साथ उत्तर देने का सामर्थ्य प्रदान करता था। यह प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा का श्रेष्ठतम उदाहरण है।

यही नहीं बल्कि आधुनिक कालखण्ड में **'ब्यूटीफुल ट्री'** नामक पुस्तक में **धर्मपाल जी** ने अँग्रेजी शिक्षा पद्धति प्रारम्भ होने से पूर्व **थॉमस मुनरो** द्वारा कराये गए सर्वेक्षण के आधर पर यह उल्लिखित किया है कि मद्रास प्रांत में गाँव-गाँव में पाठशालाएँ थीं तथा उन पाठशालाओं में **तीस प्रतिशत दलित कहे जाने वाले वर्ग के शिक्षक कार्यरत थे और साठ प्रतिशत से भी अधिक पिछड़े वर्ग व शूद्र कही जाने वाली जातियों के छात्र एवं छात्रा, इनमें शिक्षा ग्रहण करते थे।** इसी अनुरूप **जी. एल. प्रेडरगाष्ट** (सन् 1820), **विलियम**

एडम (सन 1838) एवं **डॉ. जी. डब्ल्यू लिटनर** (सन 1882) द्वारा प्रस्तुत बम्बई प्रेसिडेन्सी, बंगाल-बिहार एवं पंजाब से सम्बन्धित आँकड़े भी लगभग इन्हीं स्थितियों का वर्णन करते हैं।

अँग्रेजी शिक्षा अधिनियम, 1835 के अनुसार अँग्रेजों के आने से पहले भारत में शिक्षा का कितना व्यापक प्रसार था, इसकी एक झलक '**हाउस ऑफ कॉमन्स**' में लार्ड वैविंगटन मैकाले की उस स्वीकारोक्ति से स्पष्ट हो जाती है जब उसने कहा कि इंग्लैण्ड के दो सौ विद्यालयों के विपरीत भारत में लगभग 2,57,000 पाठशालाएँ अर्थात् प्रत्येक गाँव में एक शिक्षाकेन्द्र हैं।

लोक शिक्षण-

इसके साथ ही तीर्थाटन, पर्व-मेले, कथा-प्रवचन इत्यादि समारोहों तथा विद्वत् गोष्ठियों के माध्यम भी एक प्रकार से लोक शिक्षण के सशक्त व प्रभावी संसाधन रहे।

समावर्तन-

सत्यं वद, धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। एष आदेशः। एषः उपदेशः। एषः वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। [25]

पुरुषार्थ- जीवन, पुण्य, भगवान्। प्रमाद- मृत्यु, पाप, शैतान। -(श्रद्धेय स्वामी रामदेव जी महाराज)

समावर्तन संस्कार में आचार्य की तरफ से सत्य व धर्म का पालन करने में स्वाध्याय, पुरुषार्थ करने में प्रमाद न करने का आदेश व उपदेश दिया जा रहा है। वेद में कहा है **प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि। [26] प्रमादो मृत्योः पदम्। [27]** योग के नौ अन्तरायों में भी प्रमाद का नाम आया है। श्रद्धेय स्वामी जी महाराज भी प्रमाद को पाप, शैतान व मृत्यु कहते हैं क्योंकि यह प्रमाद ही मात्र एक ऐसा दोष है जो व्यक्ति को कोई बड़ा लक्ष्य हासिल नहीं करने देता है। प्रमाद भी दो प्रकार का होता है, एक है सक्रिय प्रमाद और दूसरा है निष्क्रिय प्रमाद। सक्रिय प्रमाद से अभिप्राय है जो कर्म जिस इन्द्रिय से करना चाहिये उसे न करना और जो कर्म जिस इन्द्रिय से नहीं करना चाहिये उसे प्रमादवश कर डालना। प्राचीन काल में भी आचार्य इस मानवीय कमजोरी को जानते थे इसलिए जाते-जाते भी उसे इस दोष के प्रति अत्यधिक सजग रहने का उपदेश देते थे।

प्राचीन भारत का शिष्य, गुरु का न केवल विद्यार्थी होता था, अपितु वह गुरु के परिवार का एक सदस्य भी होता था। प्रातःकाल से निद्रा पर्यन्त वह गुरु के पर्यवेक्षण में उनके द्वारा बताये गए नियमों के पालन करने तथा अध्ययन में निरत रहता था। इस अनोखे स्नेहात्मक संबंधों के कारण शिष्यों की व्यक्तिगत अभिरुचियों, विशेषताओं तथा आचरण-व्यवहार की पूर्ण परख गुरु द्वारा सतत, सहज और स्वाभाविक रूप से होती रहती थी। शिष्य भी गुरु द्वारा दिये गये उपदेशों का ध्यानपूर्वक श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन कर विद्या में पारंगत होता रहता था **चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति-आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। [28]** **(व्याकरण महाभाष्य)** इस सतत मूल्यांकन के द्वारा गुरु अपने शिष्यों को बढ़ाने का तथा उसकी योग्यता को आँकने का प्रयास करते थे।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य (शिक्षा-सत्र) की समाप्ति के उपरान्त उत्तीर्ण छात्रा को आचार्य स्वयं माला व हंस के चिर्विले दुकूल (रेशमी दुपट्टा) ओढ़ाकर उसके स्नातक होने की पुष्टि तथा घर लौटने की अनुमति प्रदान करते थे। स्नातकों का इस प्रकार गुरुकुल से लौटने की क्रिया को ही समावर्तन के नाम से जाना जाता था। इसके उपरान्त गुरु अथवा कुलपति उन्हें आदर्शजनित भावी जीवनयापन के लिए समावर्तन उपदेश देते थे।

9. प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्र एवं विश्वविद्यालय

भारत में अनादि काल से ही गुरुकुलों की एक समृद्ध परंपरा रही। वर्णक्रम के लिए प्रसिद्ध माहेश्वर सूत्र के प्रणेता गुरुओं के गुरु महादेव से लेकर भृगु, कश्यप, अत्रि, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, ऋतु, पुलह, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त, बादरायण आदि के संदर्भ वैदिक ग्रंथों में उपलब्ध हैं। रामायण के अनुसार ब्रह्मर्षि वशिष्ठ मुनि का आश्रम सरयू नदी के तट पर अवध प्रान्त में, राजर्षि विश्वामित्र का आश्रम कौशिकी नदी के तट पर मगध प्रान्त में, महर्षि वाल्मीकि का आश्रम तमसा व गंगा नदियों के निकटवर्ती तट पर, सांख्याचार्य कपिलमुनि का आश्रम उत्कल प्रान्त में, ऋषि वामदेव का आश्रम विन्ध्य पर्वत की मेखलाओं में नर्मदा नदी के उद्गम स्थान पर, ऋषि भारद्वाज का आश्रम प्रयाग में तथा महर्षि अगस्त का आश्रम दण्डकारण्य में रहा था। इसी प्रकार महाभारत काल में महर्षि संदीपनि का आश्रम उज्जैन में, महर्षि कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर, महर्षि वेदव्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर तथा महर्षि शौनक का आश्रम नैमिषारण्य में रहा था। ये सभी आश्रम अपने काल में श्रेष्ठ विद्या केन्द्रों के रूप में प्रतिष्ठित थे और उपर्युक्त सभी ऋषिगण अपने आश्रमों के कुलपति कहे जाते थे। स्मृतियों के अनुसार कुलपति का यह उद्बोधन उन आचार्यों के लिए प्रयुक्त होता था जो कम से कम दस हजार विद्यार्थियों के अध्यापन व पोषणादि की व्यवस्था करता था। आज नई शिक्षा नीति में तो मात्र 3 हजार विद्यार्थी रखने की बात हो रही है।

समय के प्रवाह में गुरुकुल, आचार्यकुल या आश्रम के रूप में प्रसिद्ध विद्या के विशिष्ट केन्द्र अपने बृहद् स्वरूप के कारण विश्वविद्यालय के रूप में परिणित हो गए। जिनमें अत्यन्त प्रसिद्ध गान्धर प्रान्त में स्थित तक्षशिला विश्वविद्यालय जो महाभारत काल से ही प्रसिद्ध रहा। जहाँ पर ऋषि धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरूणि आदि ने ज्ञानार्जन किया था। इस विश्वविद्यालय के प्रमुख और प्रसिद्ध आचार्यों में महर्षि पाणिनि, महर्षि चरक, आचार्य चाणक्य व आचार्य जीवक का नाम प्रसिद्ध है। इस विश्वविद्यालय में छात्रों की संख्या 10,500 और आचार्यों की संख्या 2,000 के लगभग थी। भारतवर्ष में तक्षशिला के

अतिरिक्त वाराणसी (काशी) भी ज्ञानार्जन का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है और विदेहराज राजर्षि जनक के समय से ही मिथिला का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है, यहां के आचार्यों कीशृंखला में जगद्धर विद्यापति, गणेश उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, वासुदेव मिश्र, महेश ठाकुर, शघङ्कर मिश्र व वाचस्पति मिश्र आदि विद्वान् रहे हैं। यह स्थान 'शलाका परीक्षा' के लिए प्रसिद्ध था। झेलम तथा किशन गंगा नदियों के संगम पर बसा हुआ मुजफ्फराबाद एक नगर है। जहाँ पर आज भी शारदा विश्वविद्यालय के अवशेष प्राप्त होते हैं। कनिष्क के राज्य में यह सम्पूर्ण मध्य एशिया का बृहद् सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का केंद्र था। कल्हण विरचित 'राजतरंगिणी' में इसका वर्णन किया गया है कि सम्राट् ललितादित्य के समय इस विश्वविद्यालय में चौदह विषयों से अधिक की शिक्षा दी जाती थी। इसी विश्वविद्यालय में ही देवनागरी से अलग शारदा लिपि का प्रार्दुभाव हुआ था। इन सभी के अतिरिक्त **सौराष्ट्र** के काठियावाड़ में स्थित वल्लभी विश्वविद्यालय, मगध का विक्रमशिला विश्वविद्यालय, राजगीर का नालन्दा विश्वविद्यालय, **ओड़िसा** प्रान्त के ओदन्तपुरी, जगद्दला, उदयगिरि, रत्नागिरि, ललितागिरि तथा कलिंग का पुष्पगिरि, बंगाल का नवद्वीप, सोमपुरा व विक्रमपुर विश्वविद्यालय एवं आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित किए गए कांची कामकोटिपीठ, ज्योतिष्पीठ, शारदापीठ, गोवर्धनपीठ, शृंगेरीपीठ लब्ध प्रतिष्ठित शिक्षा केन्द्रों के रूप में विख्यात रहे थे। नवद्वीप विश्वविद्यालय से निकले विद्वानों में हलायुध, धेयी, उमापति तथा गीत-गोविंद्य् के सुविख्यात रचनाकार जयदेव प्रमुख रहे। दक्षिण भारत के उच्च शिक्षा केन्द्रों के रूप में धरा, कांची, एन्नरियम, वेलग्राम, सालोतगी, तिरुमुक्कुरल, मलकापुरम्, तिरुवेरियूर, नगइ, भुजबलेश्वर, बीजापुर, मनगोली, अग्रहार, नागार्जुनकोंडा व मणिखेत आदि प्रमुख रहे।

10. गुरु शिष्य का विराट् सम्बन्ध

प्राचीनकाल से भारत का अस्तित्व एक विराट् गुरुकुल के रूप में ही विकसित हुआ। एक ऐसा गुरुकुल जहाँ गुरु व शिष्य दोनों अनन्य भाव से ज्ञान की साधना में निमग्न रहते हैं। भारत को समझना है तो गुरु-तत्त्व को समझना होगा और यदि गुरु-तत्त्व को समझना है तो फिर भारत को समझना पड़ेगा। प्राचीन शिक्षा पद्धति में शिक्षा केन्द्रों की भव्यता, आलीशान भवनों व संसाधनों की अपेक्षा आचार्यों की गुणवत्ता व छात्रों के प्रति उनकी समर्पण निष के मानदण्ड के आधार पर ही परखी जाती रही। वस्तुतः **शिक्षालयों की अपेक्षा शिक्षक ही वह चाक है जिस पर मानवता का वास्तविक स्वरूप आकार लेता है।**

यही कारण रहा कि इस देश में गुरु को जितना सम्मान मिला, उनके प्रति जितनी प्रबल श्रद्धा रही उसका सहस्त्रांश भी विश्व में अन्यत्र कहीं देखने व सुनने को नहीं मिलता है। विश्व के अन्य हिस्सों में कुशल विशेषज्ञ मिल सकते हैं, शिक्षण तकनीकी में पारंगत पेशेवर अध्यापक भी मिल सकते हैं किन्तु अपने आचरण मात्र से ही छात्रों के अन्तःकरण में ज्ञान के उदात्त गुणों की लौ को प्रज्वलित कर देने वाले आचार्य केवल भारतवर्ष में ही उपलब्ध हो सकते हैं।

आचार्य आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा। [29] गुरु के इसी दिव्य स्वभाव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए भारतीय मानस ने उन्हें त्रिदेवों से भी उच्च स्थान, परमब्रह्म, के समकक्ष मानकर उनकी अभ्यर्चना की।

भारतीय मान्यताओं में अध्यापन किसी व्यवस्था या प्रणाली द्वारा नियोजित दायित्व को कुशलतापूर्वक संपादित करने या फिर पाठ्यपुस्तकों में वर्णित संदर्भों व उससे सम्बन्धित सूचनाओं को संप्रेषित करने की दक्षता मात्र तक सीमित नहीं रहता है। अपितु अध्यापन एक ऐसी दुरुह जीवनवृत्ति है जो आत्मोत्सर्ग द्वारा प्रज्ञावान् पीढ़ी के सृजन में निरन्तर प्रयत्नशील बने रहने की एक सतत साधना है। यह एक ऐसा दायित्व है जिसके निर्वहन में व्यक्तिगत अभिलाषाएँ व आकांक्षाएँ प्रायः गौण हो जाया करती हैं। भारतीय मनीषियों की यह मान्यता रही कि जब तक व्यक्ति के अंदर अध्यापन करने की ऐसी ज्वलन्त उत्कण्ठा न हो, तब तक मात्र जीविकोपार्जन के क्षुद्र लक्ष्य को हासिल करने के लिए उसे अध्यापक नहीं बनना चाहिए। वास्तविकता भी यही है कि सच्चा अध्यापक अन्तर्मन से समृद्ध होता है, अतः उसे बाह्य प्रलोभन प्रभावित नहीं करते हैं। व्यक्ति से परिवार, परिवार से लोक तथा लोक से राष्ट्र एवं वैश्विक परिवेश का निर्माण शिक्षक के इसी दायित्वपूर्ण बोध पर ही निर्भर होता है। इसीलिए वेद में कहा भी गया है कि- **वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।** [30]

भारतीय ज्ञान परम्परा में गुरु या आचार्य का पद बहुत ही यशस्वी एवं प्रतिष्ठित होता है। यह पद त्याग, तपस्या, अखण्ड-प्रचण्ड-पुरुषार्थ तथा सत्याचरण से ही प्राप्त हो सकता है। यद्यपि माता-पिता अपने संतान को जन्म देकर उसका पालन-पोषण करके अपना कर्तव्य निभाते हैं। तथापि गुरु उस संतान को मानव से महामानव, नर से नारायण बनाने का महान पुरुषार्थ करते हैं तथा शिष्य के रूप में अंगीकार कर आत्मदान से अमरत्व प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ- इस परम्परा के निर्वहन में जो सबसे प्रसिद्ध उदाहरण है उनमें प्राचीन- अर्जुन और कृष्ण तथा आधुनिक काल के तीन संदर्भ हमारे सामने उपस्थित होते हैं- प्रथम संदर्भ आचार्य चाणक्य व चन्द्र का है जिसके संपर्क में आने के उपरान्त दासी मुरा का पुत्र सम्राट् चन्द्रगुप्त के रूप में इतिहास में अमर हुआ, वहीं द्वितीय उदाहरण दण्डी स्वामी गुरु विरजानन्द का है जिन्होंने ऋषि परम्परा के ज्ञान से अर्थात् आर्ष शिक्षा के प्रभाव से उनका विराट् व्यक्तित्व निखार कर सार्वकालिक आर्ष चिन्तक, महान समाज सुधारक महर्षि दयानन्द के रूप में संसार के सामने उपस्थित कर दिया। तृतीय उदाहरण रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आये हुए विश्वनाथ दत्त के यशस्वी पुत्र नरेंद्र का है जो गुरु की सन्निधि में आकर नरेंद्र से स्वामी विवेकानन्द बनकर विश्वपटल पर प्रसिद्ध हुए।

-क्रमशः

गतांक से क्रमश:

गुरुकुलीय शिक्षा का विराट् स्वरूप

साध्वी देवप्रिया | कुलानुशासिका एवं संकायाध्यक्षा
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखंड, भारत

11. क्या गुरुकुलीय शिक्षा व्यवस्था का नई शिक्षा नीति से कोई सम्बन्ध है?

नई शिक्षा नीति एवं प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति में परस्पर अन्तर्सम्बंध- प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति अत्यंत महनीय, जीवनोपयोगी, आत्म-कल्याण, विश्व-कल्याण, सूक्ष्म व स्थूल जगत के ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण थी। जिस शिक्षा नीति की चर्चा आधुनिक शिक्षाशास्त्री करते रहे हैं और वर्तमान में जो नई शिक्षा नीति का लक्ष्य है। यथा- समग्रता से परिपूर्ण शिक्षा होनी चाहिए, शिक्षा जिज्ञासा केन्द्रित होनी चाहिए, शिष्य का सतत् मूल्यांकन होता रहे ऐसी शिक्षा होनी चाहिए। संस्कृति की जड़ों से युक्त शिक्षा होनी चाहिए, अनुभूति गम्य शिक्षा होनी चाहिए, क्रिया आधारित शिक्षा होनी चाहिए। छात्र के सामर्थ्य के अनुसार उसका पाठ्यक्रम होना चाहिए आदि। इसके प्रमाण हमारे वेदों, स्मृतियों, उपनिषदों, दर्शनों एवं रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से मिलते हैं। जिसे प्राचीनकाल के गुरु-शिष्य ज्ञान परम्परा में ऋषियों के द्वारा आत्मसात किया गया था। गुरुकुलीय ज्ञान विशेषकर उपनिषदों में वर्णित शिक्षा गुरु-शिष्य संवाद, जिज्ञासा, क्रियात्मक, अनुभूतियुक्त एवं सांस्कृतिक मूल्यों से ओत-प्रोत होती थी। जिसे केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, तैतिरीयोपनिषद्, छान्दग्योपनिषद् आदि के स्वाध्याय से हम समझ सकते हैं। पिछले लगभग 200 वर्षों के बाद हमें प्रसन्नता है कि वर्तमान नई शिक्षा नीति में कुछ बिन्दु हुबहु गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति से मेल खाते हैं। उदाहरण के लिये हम दोनों शिक्षा नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ बिन्दुवार करेंगे।

1. Growth of physical, vital, mental, intellectual and spiritual forces.

(पाँच कोशों या आयामों को पूर्ण विकसित करने वाली शिक्षा)

जैसा कि हम गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति में पंचकोश अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश एवं आनन्दमयकोश के विकास के माध्यम से बालक के आन्तरिक विकास की चर्चा कर चुके हैं, बिल्कुल वही चर्चा वर्तमान शिक्षा नीति में शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक इन 5 शक्तियों को वर्तमान युग के शिक्षा शास्त्रियों ने विकसित करने पर बल दिया है। महर्षि श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द जी ने भी इसी प्रकार की शिक्षानीति की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है।

ओम् अग्नये समिधमाहार्ष बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽएवमहर्मायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासँ स्वाहा।। [31]

अर्थात् हे ब्रहत स्वरूप वाले अग्निदेव/आचार्यदेव आचार्यप्रवर। जिस प्रकार आप इस अग्नि में समिधाएं अर्पित कर रहे हैं और इस अग्नि को जिन्दा (प्रज्वलित) रखे हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी आयु से अर्थात् प्राण से, मेधया-बुद्धि से, वर्चसा= विशेष ज्ञान से प्रजया पशुभि= इन्द्रियों से तथा ब्रह्मवर्चसेन=bliss आनन्द से सदा प्रकाशित रहूँ। मेरा आचार्य सदा जीवपुत्र बना रहे। मैं यशस्वी, तेजस्वी, आनन्दी तथा त्यागभाव से संसार का उपयोग करने वाला बनूं।

2. Student centric or Teacher centric education?

(शिक्षा छात्र केन्द्रित अथवा गुरु केन्द्रित?)

पूरे विश्व में आज इस बिन्दु पर चर्चा होती है कि शिक्षा छात्र केन्द्रित होनी चाहिए अथवा गुरु केन्द्रित? कुछ लोगों का माननता है शिक्षा छात्र केन्द्रित होनी चाहिए तथा कुछ लोगों का मानना है कि शिक्षा गुरु केन्द्रित होनी चाहिए, लेकिन गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति इन दोनों से ऊपर उभयकेन्द्रित के आदर्श को मानते हुए गुरु शिष्य दोनों का सिर्फ अलग अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करती, अपितु दोनों के साथ-साथ विकास की बात करती है। जैसे कि गर्भस्थ शिशु और माँ का अस्तित्व अलग नहीं होता उसी प्रकार गुरु और शिष्य का अस्तित्व भी साथ-साथ ही विकसित होता है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सहः वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधितमस्तु मा विद्विषावहै।। [32]
आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रिस्तिइ उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।। [33]
सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।। [34]

अर्थात्- हे प्रभो! हम दोनों गुरु शिष्यों का संसार में, वेद और ज्ञान-विज्ञान आदि उत्तम शिक्षा द्वारा यश फैले। हम दोनों का पढ़ना-पढ़ाना तेजस्वी हो।

3. Curiosity based Education.

(जिज्ञासा आधारित शिक्षा)

आधुनिक शिक्षाविदों का मानना है कि शिक्षा जिज्ञासा आधारित होनी चाहिए। ऐसा ना हो कि हम बहुत ऊँचे उपदेश देते जायें और छात्र को कुछ समझ में न आये। परीक्षा के समय वह कुछ रटकर पास हो जायें वास्तव में उसे पढ़ने में आनन्द तब आयेगा जब वह स्वयं कुछ जिज्ञासा करेगा। इस बात की वैज्ञानिकता को हजारों वर्ष पहले हमारे ऋषियों ने जाना था इसलिए अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त का प्रथम मन्त्र ईक्षण शब्द से शुरू होता है जिसका अर्थ होता है- जिज्ञासा।

ब्रह्मचारीष्णंश्चरित रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति। [35]

(अथर्ववेद 11.5.1)

ब्रह्मचारी दोनों लोगों के प्रत्येक पदार्थ में उस ब्रह्म को खोजता हुआ विचरण करता है। उसके इस सरल जिज्ञासु मन के साथ दिव्य शक्तियों का सम्पर्क हो जाता है।

इसी प्रकार गुरु-शिष्य का जिज्ञासा परक शिक्षा संवाद केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, तैतिरीयोपनिषद्, छान्दग्योपनिषद् एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रेति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रां क उ देवो युनक्ति। [36]

प्राचीन शिक्षा परम्परा में शिष्य गुरु से निःसंकोच उसके में मन में जो जिज्ञासा आती थी वह प्रश्न करता था जिसका समाधान गुरु देते थे। जब तक कि वह पूर्ण रूप से संतुष्ट न हो जाए। कठोपनिषद् में वर्णित जिज्ञासु शिष्य नचिकेता और ब्रह्मनिष्ठ श्रेष्ठज्ञानी-

वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो। [37]

यमाचार्य की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिसमें यमाचार्य ने प्रिय शिष्य नचिकेता की प्रशंसा की है।

स त्व प्रियान् प्रिय रूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। [38]

सम्पूर्ण कठोपनिषद् में यमाचार्य ने शिष्य नचिकेता की जिज्ञासा को केन्द्र में रख करके उसको संतुष्ट किया। इसी प्रकार गुरु-शिष्य के संवादात्मक जिज्ञासापरक शिक्षा का अत्यन्त महत्त्व है।

महर्षि दयानन्द जी के जीवन चरित में भी गुरु-शिष्य संवाद का रोचक प्रसंग आया है जिसमें महर्षि दयानन्द जी ने अपने गुरु विरजानन्द जी से अनेक जिज्ञासाएं की हैं जिनका उत्तर दण्डी स्वामी जी ने दिया है- कभी-कभी गुरु-शिष्य में शास्त्रार्थ भी छिड़ जाता था। विरजानन्द महान् तार्किक थे, परन्तु दयानन्द भी कोई साधारण वाक्पटु न थे। गुरुजी कई बार उन्हें 'कालजिवि' और 'कुलक्कर' की उपाधियाँ दे देते थे।

प्रश्नोपनिषद् में गुरु-शिष्य संवाद का बहुत ही रोचक प्रसंग आता है जिसमें महर्षि पिप्पलाद के पास ये छः ब्रह्म जिज्ञासु आते हैं-

ओऽम् सुकेशा च भारद्वाजः, शैव्यश्च सत्यकामः, सौर्यायणी च गार्ग्यः, कौशल्यश्चाश्वलायनो, भार्गवो वैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्म परा ब्रह्म निष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति, ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः। [39]

4. Mapping of knowledge status of the student.
(विद्यार्थी की सामर्थ्यानुसार अध्यापन)

आधुनिक शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण बिन्दु है कि शिक्षा छात्र की सामर्थ्य अनुसार दी जानी चाहिए। **यथाशक्ति वाचयीत।। [40]**

अर्थात्- ब्रह्मचारी की शक्ति के अनुसार पढ़ावें।।

धर्मार्थौ यत्रा न स्यातां शुश्रुषा वाऽपि तद्विध।
विद्यया सह मर्तव्यं न चैनामूषरे वपेत्।। [41]

अर्थात्- गुरु को चाहिए कि वह योग्य, सुपात्र शिष्य को ही विद्या दान करे। किसी अयोग्य, कुपात्र शिष्य को न पढ़ावे। क्योंकि न तो इससे धर्म और न ही अर्थ की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो मृत्यु का वरण कर ले। पर अयोग्य शिष्य को विद्या न प्रदान करे। कारण इस प्रकार अयोग्य पात्र को दी गई विद्या ऊसर खेत में बीज बोने से कम नहीं है।

इमां धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि।
ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम।। [42]

इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हे सतत् ईक्षण करने वाले आचार्य! आप इस विद्यार्थी-समूह की बुद्धि कर्म-शक्ति और निपुणता को सम्पूर्ण और अनुशासनयुक्त बनाइये। जिससे हम लोग ज्ञान तथा अनुशासन रूपी नौका पर चढ़कर अज्ञान आदि दुर्गुणों तथा दुःखों को पार कर लें।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे।। [43]

इसके अतिरिक्त वेदों में आचार्य से संयमी, वाचस्पति (वाणी का स्वामी), वसुपति (गुणधर्म को जानने वाला), भूतकृत् (चरित्र निर्माता), ज्ञाननिधि (विषयों पर अच्छी पकड़), मनुर्भव (मननशील व विचारक), वाक्तत्त्ववित् (भाषा विज्ञानी), दूरदर्शी एवं प्रसन्नचित्त आदि गुणों से सम्पन्न होने की भी अपेक्षा की गयी है।

अतः अध्यापन से पूर्व आचार्य के लिए यह आवश्यक है कि वह छात्रों की प्रवृत्तियों का, उसके मानसिक झुकाव का, उसके स्वभाव व क्षमताओं का, उसकी पृष्ठभूमि तथा उसके पैतृक व आनुवंशिक प्रभावों का बड़ी सूक्ष्मता एवं सकारात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करते हुए उसे विषयों में प्रवेश करने योग्य बनाने का यत्न करें। आचार्यों में इस प्रतिभा सम्पन्नता के साथ अपने दायित्वों के प्रति निष्काम प्रतिबद्धता और फिर शिष्यों में उसका कुशलतापूर्वक प्रक्षेपण की सिद्धता तथा परिणाम द्वारा इसका स्वतः मूल्यांकन करना भी अपेक्षित माना गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य-शिष्य संबंधों का सूक्ष्म चित्रण करते हुए आचार्य पूर्वरूप व शिष्य को उसका

उत्तररूप (अनुसर्ता) कहा गया है, विद्या सन्धि है जो दोनों का सम्बन्ध जोड़ती है और प्रवचन इनका संयोजक है-

आचार्यः पूर्वरूपम् अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनम् सन्धनम्। इत्यधि विद्यम्।[44]

इसके साथ ही शिष्यों से भी यह अपेक्षा की गयी है कि वह अपने सेवा व शुश्रुषा के द्वारा गुरु के भीतर विद्यमान विद्या को उसी प्रकार से प्राप्त कर ले, जिस प्रकार खनित्र या फावड़े से भूमि खोदकर मनुष्य जल निकाल लेता है यथा **खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।[45]**

इस प्रकार आचार्य की अनुकम्पा से प्राप्त ज्ञान को छात्र अध्ययन (अधीति), अनुशीलन (बोध), व्यावहारिक प्रयोग (आचरण) के माध्यम से ग्रहण करते हुए लोक में इसको उचित रूप से सम्प्रेषित (प्रचारण) करने का प्रयत्न करें ताकि उनके द्वारा अर्जित ज्ञान का लाभ जन समुदाय भी उठा सके।

5. Inclusive education. (सर्वसमावेशी शिक्षा)

नई शिक्षा नीति इस बात पर बल देती है कि शिक्षा मनुष्य मात्र के लिए समान रूप से अनिवार्य है, अर्थात् चारों वर्णों एवं महिला-पुरुष सभी समान रूप से शिक्षा के अधिकारी हैं उपनिषदों में महाराजा ज्ञानश्रुति, जनक एवं अश्वपति, क्षत्रिय वर्ण से सम्बन्ध रखते हैं जबकि रैक्व, सत्यकाम, जांबाल, महिदास एवं व्यास आदि ऋषि उच्च वर्णों से सम्बन्ध नहीं रखते हैं, इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क्य का संवाद नारी शिक्षा का प्रखर प्रमाण है। अथर्ववेद में कहा है- **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।[46]** अर्थात् अपने ब्रह्मचर्य आश्रम की परिसमाप्ति पर अर्थात् शिक्षा-दीक्षा पूर्ण होने पर कन्या अपने युवा पति को प्राप्त करे। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में शिक्षा का अधिकार समान रूप से मनुष्यमात्र को प्राप्त था।

पंचविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्।।[47]

यहाँ पर नारी को पुरुष से भी अधिक शक्तिशाली व बुद्धिमती बताया गया है क्योंकि पुरुष के पास 25 वर्ष में जो शक्तियाँ संचित होती हैं, नारी 16 वर्ष मात्र में उनसे सम्पन्न हो जाती है।

यथेमां वाचघट्टल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।[48]

6. Holistic education, ultimate goal of education. (शिक्षा में समग्रता)

आधुनिक शिक्षाशास्त्री मानते हैं कि शिक्षा खण्ड-खण्ड नहीं समग्रता से युक्त होनी चाहिए। यद्यपि एक-एक खण्ड अथवा विषय भी अपने-आप में पूर्ण ही होता है परन्तु वह समग्रता से सर्वदा अभिन्न ही है। छान्दोग्योपनिषद् में नारद-सनत्कुमार संवाद के 26 खण्डों में बहुत ही सुन्दर ढ़ंग से इस बात को प्रस्तुत किया गया है, यहाँ पर शब्दवित् से शिक्षा का प्रारम्भ करके आत्मवित् अथवा ब्रह्मवित् तक शिक्षा की पूर्णता को दर्शाया गया है, इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक के 1 से 16 खण्ड तक आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को शिक्षा की इसी समग्रता का उपदेश करते हैं। हमारे ऋषियों का मानना था कि शिक्षित व्यक्ति के जीवन में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं होनी चाहिए। उदाहरणार्थ- संस्कारविधिः के वेदारम्भ संस्कार में गुरु कहते हैं- **'हे बालक! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवान् अरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः।। [49]**

7. Observation & Project based education. (प्रेक्षण एवं परियोजना आधारित शिक्षा)

आधुनिक शिक्षाविदों का मानना है कि बालक की शिक्षा, प्रेक्षण तथा परियोजना बुद्धि से युक्त होनी चाहिये। बचपन से ही छोटे-छोटे प्रोजैक्ट कुशलता पूर्वक पूरे कर लेने पर पूरे जीवन के विराट् प्रोजैक्ट को मनुष्य बड़े आनन्द के साथ पूरा कर सकता है।

प्राचीनकाल में यह बात छान्दोग्योपनिषद् में हमें देखने को मिलती है। सत्यकाम, जाबाल को उनके गुरुजी एक परियोजना देकर जंगल में भेजते हैं और कहते हैं कि ये 400 गायें जब 1000 हो जायें तब वापस गुरुकुल में लौटना तभी हम आपको शिक्षित करेंगे। इस परियोजना को पूर्ण करने के लिए सत्यकाम जाबाल पृथ्वी से, हवाओं से, दिशाओं से, सूर्य से, गायों से एवं सम्पूर्ण प्रकृति से प्रेक्षण (Observation) करते हुए ब्रह्मज्ञान से युक्त होकर गुरु के पास वापस लौटते हैं।

तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति। ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रमावर्तयेति। स ह वर्षगणं प्रोवास। ता यदा सहस्रंइ संपेदुः।।[50]

यह एक गुरुभक्ति, विद्याप्राप्ति की जिज्ञासा हेतु प्रयोगात्मक परीक्षा रूप था। 400 गायें जब तक सहस्त्र हो गई तब कई वर्ष के पश्चात् उनको लेकर आश्रम में आया। तब तक सत्यकाम जाबाल को प्रकृति के अलग-अलग घटकों व श्रेष्ठ विद्वानों की संगति से अत्यंत गुह्य ज्ञान प्राप्त हो गया था।

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि, को नु त्वाऽनुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे, भगवाइस्त्वेव मे कामं ब्रुयात्।[51] (छान्द.4.9.2)

सत्यकाम को देखकर गुरु ने कहा हे सौम्य! तुम तो मुझे ऐसे प्रतीत होते हो, जैसे ब्रह्मज्ञानी हो गये हो। आप को किसने ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है? सत्यकाम कहते हैं- हे गुरुवर! मुझे साधारण मनुष्यों से भिन्न विशेष वृषभ, अग्नि आदि प्रकृति के विभिन्न घटकों ने कुछ सिखाया है, फिर भी भगवन् मैं आप का शिष्य हूँ आप मेरी कामना को पूर्ण करें अर्थात् आप मुझे उपदेश करें।

-क्रमशः